

लेख माला - 4

चंचल चौहान

अनुक्रम

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा पद्धति
2. डा. नामवरसिंह की समीक्षा : निषेध का निषेध
3. मुक्तिबोध का आलोचनात्मक विवेक
4. हिंदी समीक्षा में रूपवाद का एक नया शगूफ़ा
5. जगदीश गुप्त की त्रयी-1 की भूमिका बनाम बौद्धिक दिवालियापन
6. सौंदर्य-चेतना की रचना-प्रक्रिया
7. जनवाद की अवधारणा
8. ओमप्रकाश ग्रेवाल: विचारधारा के सवाल
9. उत्तरआधुनिकतावाद और गुजरात
10. 'लोकधर्मी' आलोचना का विचारधारात्मक आधार
11. 'आलोचना' की पुनर्नवता
12. क्रिस्टोफ़र कॉडवेल : एक प्रेरक मार्क्सवादी युवा
13. ला क्लेज़िओ (नोबेल पुरस्कार विजेता 2008)
14. महमूद दरवेश : फ़िलिस्तीन की क्रांतिकारी आवाज़

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा पद्धति

चंचल चौहान

आचार्य रामचंद्र शुक्ल आधुनिक हिंदी समीक्षा के जनक माने जाते हैं, वह उस युग के अग्रणी साहित्यिक चिंतकों में से एक थे जिसे हम राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के युग के नाम से जानते हैं। उनके विचारों की रचना जातीय, राष्ट्रीय चिंतन परंपरा से तो हुई ही है, उस पर देशविदेश के विचारों का भी प्रभाव है। उन्होंने साहित्यिक ज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान आदि की अपने समय तक की तमाम उपलब्ध सामग्री को अपनी युग की ज़रूरतों के मुताबिक इस्तेमाल किया, अपनी एक विश्वदृष्टि बनायी, और उसके तहत अपनी समीक्षा पद्धति विकसित की। उनकी इस विकासयात्रा का ज़ायजा डा. रामविलास शर्मा ने, *आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना* नामक पुस्तक में अपनी तरह से लिया है और पिछले दिनों डा. नामवर सिंह ने भी *चिंतामणि-3* के संपादन के साथ उसकी भूमिका के तौर पर 'एक अंतयात्रा के प्रदेश' में विचरण करके अपने नज़रिये से इस विकास को देखने की कोशिश की है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के युग की उपज थे। उन दिनों भारत एक राष्ट्र के रूप में उभर रहा था। 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' की गूँज पूरे देश को आंदोलित कर रही थी। पढ़ा लिखा मध्यवर्ग भी देश को एकजुट, एकतावद्ध तथा राष्ट्रीय रूप से सचेत देखना चाहता था जिससे कि आज़ादी का सपना पूरा हो सके। शूक्लजी ने इस राष्ट्रीय जागरण की चेतना से प्रेरित होकर अपने देश के अतीत की समूची परंपरा को आत्मसात किया और बाहरी देशों से मिले ज्ञान का उपयोग भी देश की नयी जागृति में मदद पहुंचाने के नज़रिये से किया। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' निबंध में उन्होंने लिखा, 'भारतवर्ष का संपर्क संसार के और भागों से बढ़ रहा है। यदि हममें विवेकबल रहेगा तो हम चारों ओर से उपयोगी और पोषक सामग्री लेकर और पचाकर अपने साहित्य को पुष्ट और दृढ़ करेंगे। यदि यह विवेकबल न रहेगा तो जैसे अनेक प्रकार के विदेशी रोगों न आकर यहां अड्डा जमा लिया है, वैसे ही अनेक प्रकार की व्याधियां आकर हमारे साहित्य को ग्रस लेंगी

और उसका स्वतंत्र विकास रुक जायेगा।¹

शुक्ल जी की इस चिंता में भारतीय समाज के स्वतंत्र विकास की चिंता भी छिपी हुई थी, यह विकास आज़ादी हासिल किये बगैर संभव नहीं था, आज़ादी भारतीय आवम के एकजुट हुए बगैर संभव नहीं थी, इसीलिए शुक्ल जी की रचनाओं में 'एकता', 'सामंजस्य', 'समन्वय', 'अभेद' की गूंज हर जगह सुनायी देती है, यही 'एकता' उनकी समीक्षा पद्धति का प्रथम सूत्र थी। 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में कविता की रचनापक्रिया में अनूठेपन या उक्तिवैचित्र्य की बात करते वक्त उन्होंने जो उदाहरण दिया, वह देखने लायक है, 'यदि हम पर कभी कविता करने की सनक सवार हो और हम कहें कि 'भारत के फूटे भाग्य के टुकड़ो ! जुड़ते क्यों नहीं ? तो हमारा कहना यही होगा, यह नहीं कि 'हे फूट से अलग हुए अभागे भारतवासियो! एकता क्यों नहीं रखते? यदि तुम एक हो जाओ तो भारत का भाग्योदय हो जाये।'² इन पंक्तियों में शुक्ल जी काव्यात्मकता और गद्यात्मकता का अंतर ही नहीं समझा रहे हैं, वे अपनी दिली ख्वाहिश का इज़हार भी कर रहे हैं। यही वह चेतना थी जिसने उनकी समीक्षा पद्धति का निर्माण किया था। *विश्व प्रपंच* की भूमिका के अंतिम पैरे में उन्होंने अपनी इस दृष्टि को स्पष्ट कर दिया था। 'भेदों में अभेद दृष्टि ही सच्ची तत्वदृष्टि है... यही अभेद ज्ञान और धर्म दोनों का लक्ष्य है, विज्ञान इसी अभेद की खोज में है...'³

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षापद्धति का दूसरा सूत्र था 'लोक' यानी जीवन जगत। कृष्णानंद ने *त्रिवेणी* की भूमिका में ठीक रेखांकित किया था कि 'शुक्ल जी 'लोकधर्म' के बड़े भक्त हैं। इस लोक में ही सौंदर्य, शक्ति और शील की भावना के भावुक हैं, उनकी लोकसंग्रही वृत्ति को लोकोत्तर 'आदर्श लोक की ओर' के संकेतों से कुछ अर्थ नहीं दिखायी पड़ता। वे इस लोक के जीव हैं, यहां से बाहर की ओर की बातों से उनकी सहानुभूति नहीं है, इसी से 'रहस्यमयी' रचनाएं उन्हें बहुत भाती नहीं हैं।'⁴

लोकमंगल के सूत्र के तहत शुक्ल जी ने हिंदी समीक्षा को मज़बूत यथार्थवादी आधार प्रदान किया। कविता पर किसी किताब की योजना बनाते वक्त उन्होंने अंग्रेज़ी में जो नोट्स लिये थे, उनमें एक जगह उन्होंने लिखा था: 'रियलिज़्म इज़ नाट ओनली ए लेजिटिमेट, इट इज़ एन एसेन्शल क्वैस्ट आफ़ द पोइंट अनटिल ही हैज़ पासड इनटु हाइ मूड व्हेन ही कैन सी नथिंग विटवीन हिज़ ट्राइपाड एंड द हैविन आव व्हिच ही सिंग्स'⁵ (यथार्थवाद कवि के लिए केवल विहित नहीं है प्रत्युत उसमें तब तक इसकी तात्विक जिज्ञासा होनी चाहिए जब तक वह उस उच्च दशा में नहीं पहुंच जाता, जहां पहुंचकर वह अपने व्यावहारिक जीवन और काव्य के वर्ण्य

स्वर्ग में कोई अंतर न पाये - अनु. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।)⁶

इन प्रमाणों से पता लगता है कि शुक्ल जी की समीक्षा का प्रतिमान था यथार्थ लोक का चित्रण, यथार्थ भावों का चित्रण, यथार्थवादी शिल्प द्वारा चित्रण। बात सिर्फ चित्रण तक की ही नहीं थी, वे यह भी मानते थे कि रचना लोकहितकारिणी, लोकमंगल करने वाली हो। यदि कोई रचना ये शर्तें पूरी नहीं करती, तो वह उनकी तई निकृष्ट कोटि की थी। उनकी समीक्षा का मूलभूत प्रतिमान उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार था : 'हमारे यहां काव्य का लक्ष्य है जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे में से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनौ और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊंचे से ऊंचे उद्देश्य आ जाते हैं।'⁷

'जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में' जिस साहित्य ने रखा, शुक्ल जी ने उसे सराहा, विश्लेषित किया। जिस साहित्य ने यह नहीं किया उस पर वे पिल पड़े। उन्होंने अपने इसी प्रतिमान के तहत प्रेमचंद को सराहा और लिखा कि 'वर्तमान सामाजिक जीवन के विविध पक्षों और अंतर्वृत्तियों को बड़ी पैनी परख प्रेमचंद जी को मिली है। उन्होंने हिंदी के उपन्यास क्षेत्र को जगमगा दिया। वे हमारे गर्व और गौरव के कारण हैं।'⁸ उन्होंने कवींद्र रवींद्र के 'रहस्यवाद' की आलोचना की और उनकी कविता में जीवन जगत से जुड़े हुए अंशों की सराहना की। तुलसी को उन्होंने अपने इसी नजरिये के तहत आदर्श माना, सूर को दोयम दर्जा दिया और कबीर की रहस्यवादिता की कटु आलोचना की, जबकि कबीर की लोकजीवन से जुड़ी रचनाधर्मिता की सराहना की। शुक्ल जी ने हिंदी समीक्षा को भौतिक आधार से जोड़ा और बालकृष्ण भट्ट की उस परंपरा को संवर्द्धित और पुष्ट किया जिसकी शुरुआत 1881 में जुलाई के *हिंदी प्रदीप* में प्रकाशित भट्ट जी के लेख 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' से हुई थी। भट्ट जी ने लिखा था : 'साहित्य, जिस देश के जो मनुष्य हैं उस जाति की मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है, वह सब भाव उस समय की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।'

शुक्ल जी के समीक्षा पद्धति में 'देश के जो मनुष्य हैं' वे ही नहीं 'देश की प्रकृति और आबोहवा, दृश्य, घटनाएं, इतिहास और इस तरह पूरा जीवन जगत ही एक कसौटी बन जाता है। वे रचनाकारों को यह सलाह देते हैं कि वे इस देश को इसकी समग्रता में जानें', तुलसीदास की यह उक्ति कि 'जाने बिनु न होइ परतीती/बिनु परतीति होइ नहीं प्रीती' को देश प्रेम के लिए भी सार्थक मानते थे। शुक्ल जी ने लिखा : 'परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि

देशप्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाइए। बाहर निकलिये तो आंख खोलकर देखिए कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं। टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, कछारों में चौपायों के झुंड इधर उधर चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गांव झांक रहे हैं, उनमें घुसिए, देखिए तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो दो बातें कीजिए, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आधा घड़ी बैठ जाइए और समझिए कि ये सब हमारे देश के हैं। इस प्रकार जब देश का रूप आपकी आंखों में समा जायेगा, आप उसके अंग प्रत्यंग से परिचित हो जायेंगे, तब आपके अंतःकरण में इस इच्छा का सचमुच उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा भरा और फला फूला रहे। उसके धनधान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें।⁹

जीवन और जगत में रुचि लेने की, उसे 'आब्ज़र्व' करने की सलाह उनके यथार्थवादी नज़रिये को स्पष्ट करती है। पिछले दिनों प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक एम. खैपचैको ने भी अपने तरीके से यही बात कही है। उन्होंने लिखा है कि 'विभिन्न साहित्यिक गुटों और सौंदर्यशास्त्रीय मान्यताओं वाले तमाम लेखकों के बीच जीवन और जन में रुचि लेने तथा उन्हें जानने की इच्छा को लेकर आम राय है। यथार्थ की कलात्मक समझ के लिए इस रुचि की यानी लोगों की ज़िंदगी और उनके आसपास की दुनिया के प्रति अपनाये गये रवैये की तथा उस सत्य की खोज की जिसे हम जीवन सत्य कहते हैं किसी भी प्रतिभावान लेखक के लिए भारी अहमियत होती है।'¹⁰

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'जगत और जीवन' के प्रतिमान को अपनी समूची समीक्षापद्धति का आधार बनाया। उन्होंने लिखा: 'जगत की विघ्न बाधा, अत्याचार, हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रयत्नसौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भगवान की मंगलमय शक्ति का दर्शन होता है। अतः जो आंख मूंदकर काव्य का पता जगत और जीवन से बाहर लगाने निकलते हैं वे काव्य के धोखे में, या उसके बहाने से, किसी और ही चीज़ के फेर में रहते हैं।'¹¹

शुक्ल जी का यह यथार्थवाद प्रकृतवाद से भिन्न है क्योंकि इसमें जगत जीवन की फोटोकृत रचना की बात नहीं कही गयी है, बल्कि मूल्यवत्ता और मानव भावों का सवाल भी जुड़ा हुआ है। अतः वे काव्य में सौंदर्य और मंगल का सामंजस्य देखकर ही मूल्यांकन करने की बात करते हैं और वे यह भी जानते हैं कि सौंदर्य और मंगल परिवर्तशील हैं। उन्होंने लिखा : 'अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर और निरविशेष ('स्टेटिक एंड एक्सोल्यूट') सौंदर्य या मंगल कहीं नहीं है।... अभिव्यक्ति

के क्षेत्र में गत्यात्मक सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है। सौंदर्य मंगल की यह गति नित्य है। गति की वही नित्यता जगत की नित्यता है।¹²

शुक्ल जी यहां वस्तुवादी सौंदर्यशास्त्र के एकदम क़रीब हैं, अपनी यथार्थपरक दृष्टि के कारण ही वे उक्त निष्कर्ष निकाल सके जो हमारे लिए आज भी प्रासंगिक है। मगर यहीं एक सवाल उठ खड़ा होता है कि सौंदर्य और मंगल की परिवर्तनशील माननेवाले आचार्य छायावाद को परिवर्तनशील सौंदर्य और मंगल के प्रतिमान से क्यों नहीं आंक सके। भावों पर लगातार ज़ोर देने वाले शुक्ल जी छायावाद की भावपूर्ण कविताओं को क्यों स्वीकार नहीं कर पाये? एक ही सामाजिक आधार पर खड़ी दो विधाओं में यह खींचातानी क्यों रही? छायावाद की कविताओं में कलात्मक तौर पर जो कहा गया था, वह शुक्ल जी की समीक्षापद्धति के पीछे काम कर रही विचार प्रणाली से अलग की वस्तु नहीं थी। सौंदर्य और मंगल का वहां अभाव नहीं था। फिर भी वे क्यों समकालीन पुष्ट काव्यधारा का मूल्यांकन न कर पाये?

दर असल, शुक्ल जी एक ऐसे राष्ट्रवादी भी थे जिन्हें ब्रिटिश साम्राज्य से ही नहीं, योरोप के तमाम साम्राज्यवादी लुटेरों और उनकी संस्कृति से नफ़रत थी। उन्हें अपना देश और उसके उत्थान के लिए मददगार विदेशी ज्ञानविज्ञान और जीवन जगत के रहस्यों को खोलने वाले विचार ही प्रिय थे। 'स्वदेशी' और सर्वदेशीय ज्ञानविज्ञान का सामंजस्य यह थी उनकी विचारधारा। इस विचारधारा के निकष पर उन्हें छायावाद स्वदेशी भी नहीं लगता था और ज्ञानविज्ञान का सहयोगी न लगकर 'रहस्यवाद' का ही अंग लगता था। अतः उन्होंने इसी विचारधारात्मक आधार पर छायावाद का विरोध किया। उन्होंने लिखा: 'हिंदी में आ निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीज़ों का मुरब्बा है'¹³ उन्होंने ऐसी कविताओं की सराहना भी की 'जिनका स्वरूप विलायती नहीं होता'¹⁴। शुक्ल जी ने अपनी सोच को राष्ट्रवादी विचारधारा में इस प्रकार घुलामिला लिया था कि वे मानसिक गुलामी से अपने साहित्य को स्वतंत्र रखना चाहते थे। उन्होंने अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखा था: 'हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं'¹⁵ उन्होंने इस बात का खंडन किया था कि छायावाद देश की नवीन जागृति का चिन्ह है। उन्होंने लिखा कि 'देश की नयी 'जागृति' से देशवासियों की दारुणा दशा की अनुभूति से और असीम-ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झांकी आदि का क्या संबंध? क्या हिंदी के वर्तमान साहित्य क्षेत्र में शब्द और अर्थ का संबंध बिल्कुल टूट गया है? क्या शब्दों की गर्दभरी आंधी विलायत के कलाक्षेत्र से धीरे धीरे हटती हुई अब हिंदीवालों का आंख खोलना मुश्किल करेगी'¹⁶

शुक्ल जी आयातित 'रहस्यवाद' और काव्य में 'अध्यात्मवाद' के विरोधी थे, वे इसे विलायतियों को खुश करनेवाली करतूत मानते थे। उन्होंने लिखा : 'योरप ने कहा, 'भारतवासी बड़े आध्यात्मिक होते हैं, उन्हें भौतिक सुख समृद्धि की परवा नहीं होती', बस दिखा चले अपनी आध्यात्मिकता!''¹⁷ इसी सोच के तहत शुक्ल जी छायावाद का भी विरोध कर रहे थे।

जगत और जीवन से साहित्य का रिश्ता मानने और लोकमंगल में साहित्य की भूमिका स्वीकार करने के कारण शुक्ल जी एक वस्तुवादी आलोचक के रूप में हमारे सामने आते हैं। यही वजह है कि वे साहित्य के सामाजिक प्रयोजन पर बल देते हैं और हर तरह के रूपवाद, कलावाद, सौंदर्यवाद और 'कला कला के लिए' सिद्धांत का विरोध करते हैं। उन्होंने जिसे भी कलावादी समझा, उसकी भर्त्सना की, चाहे वे रवींद्रनाथ ठाकुर रहे हों, चाहे ब्लेक और येट्स। जिस समीक्षापद्धति ने इस कलावाद को शह दी, उसे भी उन्होंने आड़े हाथों लिया, चाहे वे अलंकारशास्त्री रहे हों, रीतिकालीन काव्यशास्त्री हों या क्रोचे से लेकर स्पिन्नार्न जैसे सौंदर्यशास्त्री और नव्य आलोचक रहे हों। छायावाद भी उन्हें 'कला कला के लिए' सिद्धांत का असली रूप लगा, अतः उसका विरोध उन्होंने जम कर किया। कला की सत्ता जीवन जगत के भीतर और जीवन जगत को सुंदर और बेहतर बनाने के लिए ही है, ऐसी उनकी मान्यता थी। यह नज़रिया हमारे यहां के उभरते पूंजीवाद (जिसकी उस वक्त क्रांतिकारी भूमिका थी) से ही उन्हें मिला था। प्लेखानोव ने लिखा था कि 'कला को प्रयोजनवादी नज़रिया रूढ़िवादी मस्तिष्क में भी उसी तरह बसा हो सकता है जिस तरह क्रांतिकारी मस्तिष्क में'¹⁸

शुक्ल जी में जहां उभरते पूंजीवाद की अनेक विचारसरणियां क्रांतिकारी भूमिका अदा कर रही थीं, वहीं उनके लेखन में बहुत से सामंती रूढ़ियां भी घर किये बैठी थीं। ये रूढ़ियां उन्हें देश के भीतर व्याप्त पूंजीवादपूर्व के कृषि संबंधों से उत्पन्न व्यवस्था से मिलीं। इसीलिए वे ऐसी लोकसत्तात्मक 'डेमोक्रेटिक' व्यवस्था के हिमायती थे जिसका वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर ही अस्तित्व हो, अपनी इसी लोकसत्तात्मक अवधारणा के तहत वे व्यक्तिवाद का भी विरोध कर रहे थे। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के बारे में लिखते वक्त अपना मत भी प्रकट कर दिया था : 'गोस्वामी जी व्यक्तिवाद (इंडिविजुअलिज़्म) के विरोधी और लोकवाद (सोशलिज़्म) के समर्थक से लगते हैं...पर उनका लोकवाद वह लोकवाद नहीं है, जिसका अखंड तांडव रूस में हो रहा है। वे व्यक्ति का स्वतंत्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ पैर भी नहीं हिला सके, अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल ही न देख सके। वे व्यक्ति के आचरण का इतना ही प्रतिबंध चाहते हैं

जितने में दूसरों के जीवनमार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक संबंधों का सामंजस्य बना रहे। राजा प्रजा, उच्च नीच, धनी दरिद्र, सबल निर्बल, शास्य शासक, मूर्ख पंडित, पति पत्नी, गुरु शिष्य, पिता पुत्र, इत्यादि भेदों के कारण जो अनेक रूपात्मक संबंध प्रतिष्ठित हैं, उनके निर्वाह के अनकूल मन (भाव) वचन और कर्म की व्यवस्था ही उनका लक्ष्य है, क्योंकि इन संबंधों के सम्यक निर्वाह से ही वे सबका कल्याण मानते हैं।¹⁹

शुक्ल जी अपने समय में राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की अगुआई करनेवाले वर्गों की विचारधारा की ही गिरफ्त में थे, अतः मज़दूरवर्ग की तानाशाही उनके लिए स्वीकार्य तो हो भी नहीं सकती है। इसी गिरफ्त को कारण उन्होंने लेनिन और बोल्शेविकों की भी निंदा की, हालांकि इसमें साम्राज्यवादियों का मिथ्या प्रचार भी सहयोग दे रहा था। उन्होंने लेनिन के बारे में लिखा : 'ऊंची श्रेणियों के कर्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठाकर 'लेनिन' अपने समय महात्मा बना रहा। समाज की ऐसी वृत्तियों पर स्थित 'महात्म्य' का स्वीकार घोर अमंगल का सूचक है। ...रूस से भारी भारी विद्वानों और गुणियों का भागना इस बात का आभास दे रहा है।'²⁰

यह बात शुक्ल जी ने चौथे दशक के शुरू के दिनों में कही थी। अपनी मृत्यु से दो वर्ष पूर्व 17 अक्टूबर 1939 को अट्टाइसवें अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन, साहित्य परिषद के स्वागताध्यक्षीय भाषण के अंत में भी उन्होंने 'बोल्शेविकों' का उल्लेख करते हुए कहा था: 'रूस को बोल्शेविकों के बात सुनिए तो वे बड़ी उपेक्षा से अब तक के सारे साहित्य के ऊंचे वर्ग के लोगों का साहित्य बताकर बढ़ैयों, लोहारों और मज़दूरों के साहित्य का आसरा देखने को कहेंगे।'²¹ यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ गठन हो चुका था, जिसका कोई प्रभाव शुक्ल जी पर नहीं पड़ा था। उक्त भाषण में उन्होंने विदेशी साहित्यों की चर्चा करने के बाद अपना वही पुराना विचार प्रकट किया कि 'अब हमारे लिए समझने की बात यह है कि क्या हमें इन बातों को ज्यों का त्यों लेते हुए अपने साहित्य का निर्माण करते चलना चाहिए अथवा संसार के भिन्न भिन्न देशों की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों की समीक्षा करते हुए अपनी बाह्य और अभ्यंतर परिस्थिति के अनुसार उसके लिए स्वतंत्र मार्ग निकालते रहना चाहिए।'²²

शुक्ल जी में अटूट मुक्तिकामना और देश तथा साहित्य के 'स्वतंत्र मार्ग' के विकास की चिंता समायी हुई थी। उनकी चिंता निश्चय ही प्रगतिकामी थी, अतः अपने मूल में वह जनवादी थी। लेकिन स्वाधितता आंदोलन के नेतृत्व के भीतर जिस

तरह अतीतजीवी रामधुन या भगवद्गीता का कर्मयोग समाया रहा था, उसी तरह शुक्ल जी में भी अतीत को वहाल देखने की लालसा रहती थी। उन्होंने लिखा : 'हृदय के लिए अतीत एक मुक्तिलोक है जहां वह अनेक प्रकार के बंधनों से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है। वर्तमान हमें अंधा बनाये रहता है, अतीत बीचबीच में हमारी आंखें खोलता रहता है। मैं तो समझता हूं कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखाने वाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है, आगे तो बराबर खिसकता हुआ दुरभेद्य परदा रहता है...वर्तमान को संभालने और आगे की सुध रखने का डंका पीटने वाले संसार में जितने ही अधिक होते हैं संघ शक्ति के प्रभाव से जीवन की उलझनें उतना ही बढ़ती जाती हैं।'²³

शुक्ल जी के ये विचार उनकी समीक्षापद्धति को भी प्रभावित करते हैं। अतीत यानी इतिहास से लिये गये विषय और उनका जीवनसापेक्ष वर्णन जोकि महाकाव्य या ऐतिहासिक उपन्यासों में ही संभव है, उनके लिए आदर्श साहित्य बन जाते हैं। तुलसी और जायसी इसीलिए उन्हें रुचते हैं। उन्हें वर्तमान में बढ़ती, 'संघ शक्ति' जो भविष्योन्मुख होती है घबराहट देती है। वे भविष्य भी ऐसा देखना चाहते हैं जैसा उनकी दृष्टि में आदर्श अतीत में था जिसे वे मुक्तिलोक कहते हैं।

यह नज़रिया भी उन्हें अपनी समकालीन रचनाधर्मिता की गहराई से जांच पड़ताल करने से रोकता है। अतीत उनके लिए यथार्थ था। वर्तमान अंधा बनाने वाला था और भविष्य कल्पना लोक था, अतः ऐसे में यथार्थवादी होने के नाते जिस अतीत से उनका परिचय था, उससे प्रेम होना स्वाभाविक था। तत्कालीन भारतीय समाज की यह चेतना एक शक्ति भी थी और एक सीमा भी। यही शक्ति और सीमा शुक्ल जी में भी परिखक्षित होती थी। मगर इसके पीछे स्वदेश प्रेम का मजबूत आधार बराबर था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के लेखन में साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ स्पष्ट स्वर हर जगह उभरते चलते हैं। उनके चिंतन में योरप के देशों के शासक वर्गों के लिए, उन वर्गों की विचारधारा और संस्कृति के लिए नफ़रत थी। उनसे वे लगातार विचारधारात्मक संघर्ष कर रहे थे। विदेशी चिंतकों के जो विचार उनके वस्तुवादी चिंतन के अनुकूल पड़ते थे उन्हें वे अपनाते और सराहते थे। इन विचारों से उनका लेखन भरा पड़ा है। अनेक दार्शनिकों के मत उद्धृत हैं, अनेक अनूदित स्थल हैं। मगर साथ ही साथ भारतीय वाङ्मय से यह दर्शाने की चेष्टा भी है कि अपने यहां भी यह चिंतन था। हम किसी से कम नहीं। उन्होंने साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में भी अनेक विदेशी रचनाकारों, समीक्षकों के मत उद्धृत किये, अपने पक्ष के और विपक्ष के मत भी रखे। मगर वहां भी समीक्षापद्धति में यह बात उल्लेखनीय है कि भारत के अतीत के सार्थक चिंतन को बराबर ऊंचा ठहराते हुए वे उसकी वस्तुवादी व्याख्या

करते रहे। वे यह बताते रहे कि पश्चिम के वस्तुवादी उधर ही बढ़ रहे हैं जिधर हमारे वहां के लोग बहुत पहले पहुंच चुके थे। मसलन, रिचर्ड्स के बारे में लिखते वक्त वे कहते हैं : 'आजकल के प्रसिद्ध अंग्रेजी समालोचक रिचर्ड्स जो योरपीय साहित्य में समीक्षा के नाम पर फैलाये हुए बहुत से अर्थशून्य वाग्जाल को हटाकर शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा का रास्ता निकाल रहे हैं, हमारे यहां के शब्दशक्ति निरूपण के ढर्रे पर अर्थमीमांसा को लेकर चले हैं।'²⁴

यह है शुक्ल जी का नज़रिया जिसके तहत वे विदेशी दर्शनिकों, रचनाकारों आदि को आंकते हैं। उन्होंने इसी समीक्षापद्धति के तहत विदेशी चिंतन परंपरा से बहुत कुछ ग्रहण किया, हैकल की पुस्तक का, *विश्व प्रपंच* नाम से अनुवाद ही नहीं किया, उसकी एक लंबी भूमिका भी लिखी जो शुक्ल जी की उक्त चिंतनपद्धति को स्पष्ट करती है। वहां भी वे तमाम दार्शनिकों के साथ साथ अपनी जातीय परंपरा के वस्तुवादी चिंतन को बराबर प्रतिष्ठत करते हुए चलते हैं। वे देश के लोगों में जातीय गर्व का संचार करना चाहते हैं। अतः वे अतीत की महानता सिद्ध करते हैं जिससे कि अपने लोग गुलामी से आज़ाद होने का संदेश प्राप्त कर सकें। मैथिलीशरण गुप्त की *भारत भारती* की ही तरह उनकी रचनाएं भी यही एहसास कराती हैं। साम्राज्यवादियों के शोषण की भी वे जगह जगह कलाई खोलते चलते हैं। मनोबिकारों पर लिखे गये अपने निबंधों तक में गुलामी के सामाजिक सत्य और साम्राज्य शोषण को बेनकाब करना वे नहीं भूलते, मसलन, 'भय' शीर्षक निबंध में मौका लगते ही उन्होंने लिखा : 'योरप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़, जटिल और स्थायी प्रणालियां प्रतिष्ठित कीं जिनके द्वारा भूमंडल की न जाने कितनी जनता का क्रम क्रम से रक्त चुसता हुआ चला आ रहा है -- न जाने कितने देश चलते फिरते कंकालों के कारागार हो रहे हैं।'²⁵

शुक्ल जी अपने समय के विश्व के मूल अंतर्विरोध को पहचान गये थे हालांकि उन्हें वर्गीय नज़रिया प्राप्त न था। स्वदेशप्रेम और साम्राज्यवादविरोध की अंतर्भूत प्रवृत्ति से उन्होंने जान लिया था कि 'सबल और सबल देशों के बीच अर्थसंघर्ष की, सबल औ निर्बल देशों के बीच अर्थशोषण की प्रक्रिया अनवरत चल रही है, एक क्षण को विराम नहीं है।'²⁶ इसी दृष्टि से उनकी विचारधारा में ऐसा बहुत कुछ आ गया था जो आज मार्क्सवादी विचारधारा का हिस्सा है। इन तमाम स्थलों को डा. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक, *आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना* में उद्धृत किया है, उन्हें यहां दुहराने की ज़रूरत नहीं। हालांकि डा. रामविलास शर्मा यह कहते हैं कि 'शुक्ल जी की विचारधारा और मार्क्सवाद में काफी अंतर है'²⁷, मगर फिर भी उन्होंने कमोवेश उन्हें मार्क्सवादी ही सिद्ध कर दिया है,

उन्हें बाकायदा साम्राज्यवादविरोधी, सामंतवादविरोधी और पूंजीवादविरोधी भी सिद्ध किया है।

दरअसल, जब 'यही सिद्ध करना था' की ज्यामितीय प्रमेयों वाली समीक्षापद्धति अपनायी जायेगी तो शुक्ल जी को कुछ भी सिद्ध करना मुश्किल नहीं। लगभग इसी तरह की प्रणाली अपना कर डा. नामवरसिंह ने शुक्ल जी को कटघरे में खड़ा कर दिया है और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से 'दूसरी परंपरा की खोज' शुरू कर दी है जबकि आज हर विचारवान पाठक जानता है कि दोनों ही आचार्य (शुक्ल जी और द्विवेदी जी) एक ही परंपरा के विकास के मील के पत्थर हैं। यह दूसरी परंपरा कल्पनालोक की चीज़ है, यथार्थ से इसका कोई वास्ता नहीं। चंद वाक्यों को उद्धृत करके एक को उठा हुआ और दूसरे को गिरा हुआ सिद्ध करना आधारभूत रूप से गुलत है। डा. रामविलास शर्मा और डा. नामवरसिंह की प्रणालियां एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। शुक्ल जी को उनके युग के समूचे विकास के साथ, उस समय के सामाजिक अंतर्विरोधों तथा आलोचक द्वारा आत्मसात की गयी विचारधाराओं के विश्लेषण-संश्लेषण, उनके विभिन्न अंतःसंबंधों और उनके परस्पर घातों-प्रतिघातों की जांच किये बगैर उनकी समीक्षापद्धति को नहीं समझा जा सकता, हां उन्हें उठाया या गिराया ज़रूर जा सकता है।

डा. रामविलास शर्मा ने शुक्ल जी को उठाने के लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का खूब मज़ाक उड़ाया, यह कहते हुए भी कि 'इसमें संदेह नहीं कि द्विवेदी जी की धारणाएं बदलती रही हैं। उनकी किसी एक स्थापना को चिरायु मानना उनके साथ अन्याय करना होगा'²⁸ उन्होंने यह कहने में कोई संकोच नहीं किया कि द्विवेदी जी का 'दृष्टिकोण अवैज्ञानिक है यह कहने की आवश्यकता नहीं।'²⁹ डा. शर्मा ने उन्हें नस्लवादी सिद्ध कर दिया।

डा. नामवरसिंह ने इससे ठीक उलट यही फार्मूला शुक्ल जी पर आजमाया। उन्होंने शुक्ल जी को सांप्रदायिकतावादी करार दे दिया। उन्होंने शुक्ल जी के, *हिंदी साहित्य का इतिहास* से ज्ञानाश्रयी शाखा से संबंधित कुछ पंक्तियां उद्धृत करके गुरुऋण से उऋण होने के इरादे से शुक्ल जी का मज़ाक उड़ाया। आचार्य शुक्ल के बारे में उन्होंने लिखा, 'जब वे कहते हैं कि 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय, और संस्कृत वाणी का यह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी और आकर्षित करता' तो एक तरह से अपनी साहित्यिकता की कसौटी का और खुलासा करते हैं। अब यदि इस 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय, और संस्कृत वाणी' के सूत्र से सिद्धों, योगियों आदि को नापने की कोशिश करें तो आचार्य शुक्ल का यह कथन सामने आयेगा : 'यह बात ध्यान में रखना अवश्यक है कि चौरासी सिद्धों

में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दरजी तथा और बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे। नाथ संप्रदाय भी जब फैला तब उसमें भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत लोग आये जो शास्त्र ज्ञान संपन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था। पर अपने को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रज्ञ पंडितों और विद्वानों को फटकारना भी वे ज़रूरी समझते थे।' इस दृष्टि से जो डोम, चमार या ऐसी ही किसी शूद्र जाति में पैदा हुआ हो, फिर भी जो शास्त्रज्ञ पंडितों को फटकारता हो और अपनेआप को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करता हो, उसे भला 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय, और संस्कृत वाणी' से संपन्न कैसे माना जा सकता है? स्वभावतः ऐसे असंस्कृत व्यक्ति की वाणी साहित्यिक नहीं हो सकती। ...जो सुसंस्कृत माना जाता है उसकी गाली भी साहित्यिक है, लेकिन जो असंस्कृत है उसका तेज़ तर्रार वचन असाहित्यिक है। तुलसीदास यदि अलख जगानेवालों को नीच कहें तो वह काव्य है, कवीर का वचन काव्य नहीं है यदि वे कहें कि 'पांडे कौन कुमति है तोहे लागी/ तू राम नाम न जपहिं अभागी।' इसी मान्यता के चलते कविता में एक दार्शनिक कथन काव्य माने जाते हैं और दूसरे के सांप्रदायिक, क्योंकि वह स्थापित संस्कृति के विरोध में बोलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य की परिभाषा करने का अधिकारी समाज उस समुदाय के हाथ होता है जिसका प्रभुत्व होता है -- साहित्य पर, संस्कृति पर, धर्म पर और राजनीतिक सत्ता और अर्थव्यवस्था पर।'³⁰

यहां नामवर जी ने आचार्य शुक्ल जी को अपनी अतिमौलिक 'मार्क्सवादी' व्याख्या से उस समुदाय का घोषित कर दिया जिसे सत्ताभारी शोषकवर्ग कहा जाता है। 'यही सिद्ध करना था', सो मार्क्स के कथन को अंत में चस्पां करके वे आश्वस्त हो लिये। अपनी इस कोशिश में शुक्ल जी की साहित्यिकता की कसौटी को भी उन्होंने विकृत कर दिया, मानो सांप्रदायिकता ही वह साहित्यिक कसौटी थी जिस पर शुक्ल जी काव्य को परख रहे थे। नामवर जी को यह सब लिखकर शायद लोकभय हुआ हो, सो *चिंतामणि-3* का संपादन करके पाप प्रक्षालन करने की उन्होंने कोशिश की है हालांकि उन्होंने कहीं भी 'अंतयात्रा के प्रदेश में' विचरण करके अपनी उक्त मान्यताओं को सुधारने की कोई ज़रूरत नहीं समझी। सिर्फ इतना किया है कि शुक्ल जी की अनुवाद की कमियां, शब्दों में हेरफेर, 'कविता क्या है' में किये गये संशोधनों के निहितार्थ खोजे हैं। दृष्टि हमेशा की तरह चंद शब्दों पर ही है, इन्हीं शब्दों पर पैर रखने को वे 'एक अंतयात्रा के प्रदेश में' विचरण समझ बैठे। शुक्ल जी की साहित्यिकता की कसौटी पर गंभीरता से विचार करना शायद उनके वृत्ते की बात रही नहीं, तभी तो वे सांप्रदायिकता को शुक्ल जी की साहित्यिकता की कसौटी

घोषित कर रहे हैं जबकि शुक्ल जी के लिए, जैसा कि मैंने रेखांकित किया है, 'जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष गोचर रूप में लाना, यानी यथार्थवाद साहित्यिकता की कसौटी था जिसकी वजह से वे हर तरह की रहस्यवादी रचनाओं को खारिज कर रहे थे। यदि सांप्रदायिकता उनकी कसौटी होती तो जायसी के काव्य की सराहना वे कभी न करते और न कवीर के ही यथार्थवादी काव्यांशों की वे तारीफ़ करते। यह अलग बात है कि अपनी इस कसौटी के इस्तेमाल में उनसे ग़लतियां हुईं, वे कवियों को या उनके रचनाकर्म को काला और सफ़ेद के स्पष्ट विभाजन द्वारा देखने लगे। 'दो और दो चार' की सहज मति से जटिल विचार क्षेत्र का विश्लेषण नहीं होता। इहलौकिक-पारलौकिक, गोचर-अगोचर, ससीम-असीम, व्यक्त-अव्यक्त, मंगल-अमंगल आदि 'विरुद्धों के सामंजस्य' मात्र से सारा 'विश्व-प्रवंच' व्याख्यायित नहीं होता। इस तरह का कोड़ 'स्कीमा' बनाकर या सर्वशुद्ध प्रतिमान गढ़कर सारे साहित्य का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। यही वह ग़लती थी जो शुक्ल जी से हुई। उन्होंने यथार्थ की जटिलता और उसकी जटिल अभिव्यक्ति की पूरी बनावट को नहीं समझा और अपने आग्रहों की खानेबंदी में खुद को जकड़ लिया।

आचार्य शुक्ल जी की समीक्षापद्धति के वस्तुवादी यथार्थवादी अनेक समर्थ पहलू हमारी विरासत के हिस्से हैं, वहीं उनकी उस पद्धति की कमज़ोरियों से सबक लेने की आज कहीं ज़्यादा ज़रूरत है। मार्क्सवादी समीक्षा ने भी अभी तक इस तरह की कमज़ोरियों से उबरने का प्रयत्न नहीं किया है। मसलन, आचार्य शुक्ल जी के 'रहस्यवाद' का दंडकमंडलु लेकर ही डा. रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध, शमशेर आदि को शापित ताड़ित किया, उन्होंने भी अपने तई एक चौखटा बना लिया और उसी में रहकर सारे धान बाईस पसेरी तोल दिये। शुक्ल जी ने तो फिर भी जगत और जीवन को प्रतिमान माना था, मार्क्सवाद के खांटी आलोचक ने अपनी पसंद के साहित्य का दायरा और अधिक संकुचित कर लिया। इस संकुचित दायरे में जो लोग फ़िट हो गये सो खरे उतरे और बाकी सारे रचनाकार और खासकर जटिल भावबोध की जटिल अभिव्यक्ति करने वाले रचनाकार 'रहस्यवादी, अस्तित्ववादी, व्यक्तिवादी और प्रतिक्रियावादी' या इसी तरह के किसी विशेषण से विभूषित हेय जंतु करार दे दिये गये या सिज़ोफ़्रेनिया के मरीज़ घोषित कर दिये गये। सोवियत संघ में भी चौथे दशक में ऐसे मार्क्सवादी समीक्षक देखने में आये थे जिन्होंने तोल्सतोय, गोगोल, पुश्किन आदि को ही नहीं, शेक्सपीयर तक को 'पूँजीपतिवर्ग में तब्दील हो रहे अभिजातवर्ग का प्रतिनिधि रचनाकार' घोषित कर दिया था। इस तरह की समीक्षापद्धति को लेकर वहां एक कटु बहस शुरू हो गयी थी। अंत में, वह पद्धति कुत्सित समाजशास्त्रीय पद्धति ही साबित हुई थी। (यह बहस अंग्रेज़ी में एंजिल फ़्लोरेस द्वारा

संपादित, *मार्क्सिज्म एंड लिटरेचर* पुस्तक में संकलित है, इसका हिंदी अनुवाद मैंने किया है और वाणी प्रकाशन से अब उपलब्ध है।)

इस तरह की संकीर्णतावादी और कुत्सित समीक्षापद्धति हमारे मौजूदा दौर में भी उभरती रही है। इस पद्धति को लेकर हिंदी के जनवादी लेखकों के बीच बहस चल रही है। एक हिस्सा हठधर्मिता की हद तक यह मनवाने पर अड़ा हुआ है कि रचना के मूल्यांकन को खानेवंदी करके शुरू किया जाये। यानी पहले यह देखा जाये कि रचनाकार का मजदूर-किसान जनता से प्रत्यक्ष संबंध है या नहीं और देखा जाये कि रचनाकार की घोषित विचारधारात्मक प्रतिबद्धता क्या है। उसके बाद सारा काम सरल हो जाता है, यानी झट से तमाम रचनाकारों को 'अपने' और 'पराये' दो खानों में बांट लिया जाये और 'अपनों' को प्रतिष्ठित किया जाये 'परायों' को उखाड़ा जाये। मुझ जैसे कुछ लोग हिंदी में जड़ जमाये बैठी इस समीक्षापद्धति को आलोचनात्मक तरीके से सुधारना चाहते हैं। हमारा कहना है कि समीक्षा के केंद्र में रचनाकार की घोषित प्रतिबद्धता या घोषित विचारधारा न होकर रचना हो या रचना के विश्लेषण-संश्लेषण द्वारा उसके तमाम अंतःसंबंधों की पड़ताल की जाये और रचना की अंतर्निहित विचारधारात्मक वस्तु की तलाश उसके ऐतिहासिक-सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में की जाये। मगर आज इस समीक्षापद्धति का सिद्धांत रूप तक में जिक्र करना हमारे कई रचनाकार बंधुओं की बर्दाश्त के बाहर है, वे हम पर भयंकर रूप से कुपित हैं।

यह दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि रामचंद्र शुक्ल ने जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में प्रस्तुत करने की जिस कसौटी को विकसित किया था, उस आलोचनात्मक यथार्थवादी पद्धति को मार्क्सवादी समीक्षा में आत्मसात् करके हिंदी आलोचना का विकास करने के वजाय हमारे कुछ शौर्यस्थ समीक्षकों ने रचनाकारों के मन का 'साइकोएनालिसिस करना शुरू कर दिया और उस कसौटी को संकुचित करके ऐसे रचनाकारों को (रचनाओं को नहीं) आदर्श के तौर पर प्रस्तुत किया जिनकी घोषित विचारधारा या पक्षधरता मजदूर-किसान और उनमें भी खासकर किसान की थी। जहां यह लगा कि रचना में 'मजदूर किसान नहीं हैं', या मजदूर किसान की समझ में आनेवाली रचनाएं नहीं हैं, वहीं रचनाकारों को 'रहस्यवादी' या 'व्यक्तिवादी' और इस तरह 'प्रतिक्रियावादी' घोषित कर दिया गया। रचनाओं के वस्तुगत विश्लेषण की परंपरा जिसकी दिशा मार्क्स-एंगेल्स और लेनिन ने दिखायी थी हिंदी समीक्षा में काफ़ी हद तक भटकावग्रस्त ही रही आयी है। जहां रामविलास जी की पद्धति रचनाकारों के मनोविश्लेषण की ओर मुड़ गयी, वहीं नामवर जी नव्य समीक्षा की रूपवादी पद्धति की ओर मुड़ गये और अब तो उन्होंने पिछले दिनों शुक्ल

जी को परंपरा को भी दूर से ही नमस्कार कर लिया और 'दूसरी परंपरा की खोज' में लग गये। मजेदार बात यह है कि रचना को तमाम अंतःसंबंधों से काटकर 'पोइम आन द पेज' के विश्लेषण की वकालत करने वाली 'नव्य समीक्षा' के हामी नामवर जी ने अब विश्लेषण पद्धति से भी नाता तोड़ने का नारा दे दिया है। द्विवेदी जी के डिफेंस में इस अर्ध्य को क्या सचमूच ज़रूरत थी? उन्होंने लिखा : 'क्या आलोचना के नाम पर काव्यविश्लेषण भी आधुनिकतावाद का एक मिथक नहीं है? यदि सूक्ष्म विश्लेषण ही आलोचना की एकमात्र पद्धति है तो फिर सृजन सौन्टेग को व्याख्या के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाने की ज़रूरत क्यों पड़ी? सूक्ष्म विश्लेषण के अभाव में जो लोग आचार्य द्विवेदी को आलोचक मानने से इन्कार करते हैं, वे आलोचना की एक रुढ़ि के शिकार हैं...।'³¹

सचाई यह है कि तमाम अंतःसंबंधों के बीच रचना के विश्लेषण-संश्लेषण की पद्धति ही आलोचना की वैज्ञानिक पद्धति हो सकती है। सोवियत आलोचक भी इस तथ्य को बार बार रेखांकित कर रहे हैं। मगर शुक्ल जी के परंपरा के विकास की तो बात ही छोड़िए, हमारे स्वनामधन्य आलोचक आचार्यत्व की मुद्रा में एक एक कर मार्क्सवादी समीक्षा के मूलधार को ही त्यागते जा रहे हैं, जबकि हाल में ही मार्क्सवादी आलोचक वेसिली नोविकोव ने विश्लेषण-संश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति पर फिर से ज़ोर दिया है। जीवन, रचना और आलोचना सभी के लिए उसकी भारी अहमियत को उन्होंने रेखांकित किया है : 'विश्लेषण-संश्लेषण की रीतियों की एकता का सवाल उस समय खास अहमियत रखता है जब लेखक हमारे युग की केंद्रीय समस्या यानी नव मानव को रचने की समस्या से दो चार होता है।'³²

इसी तरह विश्लेषण-संश्लेषण पद्धति के सिलसिले में नोविकोव ने लेनिन का हवाला देते हुए लिखा है कि 'लेनिन के मुताबिक, सामान्यीकरण की प्रक्रिया में मूर्त से अमूर्त की ओर जाने से सत्य का अधिक गहरा, अधिक सही और पूर्ण प्रतिबिंबन संभव होता है वशर्ते जगत को पूर्णता में देखने समझने की कोशिश बरकरार रखी जाये और विचार की विश्लेषण-संश्लेषण पद्धति अपनायी जाये।'³³ मगर हमारे यहां नामवर सिंह अब इस विश्लेषण-संश्लेषण पद्धति को ही खारिज कर रहे हैं और इसे 'आधुनिकतावादी मिथक' करार दे रहे हैं, और किसी 'दूसरी परंपरा की खोज' में लगे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी की आलोचनात्मक यथार्थवादी परंपरा भी हमें साहित्य की विश्लेषण-संश्लेषण पद्धति ही देती है जिसकी कमज़ोरियों को दूर करके मार्क्सवादी समीक्षक हिंदी आलोचना का विकास कर सकते थे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का हिंदी समीक्षा में वही स्थान है जो रूसी जनवादी समीक्षा में बेलिंस्की, चेर्नोशेव्की और दोब्रोवोव का था जिनके बारे में जार्ज लूकाच

ने लिखा था : 'बेलिंस्की, चेर्नीशेव्स्की और दोब्रोव्युबोव अपने युग के तमाम 'सौंदर्यवादी' और उन लोगों के खिलाफ भयंकर संघर्ष कर रहे थे, जो जाने अनजाने 'कला कला के लिए' सिद्धांत की वकालत कर रहे थे, कलात्मक पूर्णता की अवधारणा को सामाजिक सच्चाइयों के यथार्थपरक पुनर्चित्रण से अलगा रहे थे और कला तथा साहित्य को सामाजिक संघर्ष से पूर्ण स्वतंत्र और उससे अछूती चीज़ मानते थे। ऐसे विचारों के विपरीत, बेलिंस्की, चेर्नीशेव्स्की और दोब्रोव्युबोव ने साहित्य और समाज के परस्पर संबंध पर भारी जोर दिया। उनके तर्क, जीवन स्वयं सौंदर्य का प्रतिमान था, कला का जन्म जीवन से होता है और रचनात्मक रूप में वह जीवन को ही चित्रित करती है, इस चित्रण में ईमानदारी व गहराई ही कलात्मक पूर्णता का सच्चा मानदंड हो सकती है।'³⁴

उन्नीसवीं सदी की रूसी जनवादी समीक्षा के जन्मदाताओं में जो उक्त विशेषताएं थीं, वे हमें रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा में भी मिलती हैं। हम शुक्ल जी के बारे में लगभग उसी प्रतिज्ञा को दुहरा सकते हैं जो जार्ज लूकाच ने उक्त रूसी समीक्षकों के संदर्भ में कही थी : 'मानवता के विकास के सामने उपस्थित भयंकर संकट के बीच हम यदि सचमुच एक सच्ची साहित्यिक संस्कृति की ओर प्रस्थान करना चाहते हैं, यदि हम साहित्य और साहित्यिक समीक्षा को अपने युग की समस्याओं से दो चार होने के स्तर तक उठाना चाहते हैं, तो हमें बेलिंस्की, चेर्नीशेव्स्की और दोब्रोव्युबोव से बहुत कुछ सीखना होगा, इसकी पहले के मुकाबले कहीं आज ज़्यादा ज़रूरत है।'³⁵

संदर्भ

1. रामचंद्र शुक्ल, *चिंतामणि-2*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 198
2. वही, पृ. 87
3. रामचंद्र शुक्ल, *चिंतामणि-3*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1983, पृ. 185
4. रामचंद्र शुक्ल, *त्रिवेणी*, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ. 10
5. रामचंद्र शुक्ल, *रस मीमांसा*, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ. 406
6. वही, पृ. 359
7. रामचंद्र शुक्ल, *चिंतामणि-2*, उपरिलिखित, पृ. 176-77
8. वही, पृ.213
9. वही, पृ.38-39
10. एम. खैपचैको, *The Writer's Creative Individuality and the Development of Literature*, Progressive Publishers, Moscow, 1977, p.9-10
11. रामचंद्र शुक्ल, *चिंतामणि-2*, उप. पृ. 46

12. वही, पृ. 79
13. वही, पृ. 134
14. वही, पृ. 135
15. वही, पृ. 140
16. वही, पृ. 140
17. वही, पृ. 140
18. जी वी प्लेखानोव, *Art and Social Life*, Progressive Publishers, Moscow, 1974, p. 22
19. रामचंद्र शुक्ल, *गोस्वामी तुलसीदास*, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ. 42ण
20. वही, पृ. 38-39
21. रामचंद्र शुक्ल, *चिंतामणि-3*, उप. पृ. 276
22. वही, पृ. 276
23. रामचंद्र शुक्ल, *चिंतामणि-1*, इंडियन प्रेस, प्रयाण, 1970, पृ. 209
24. रामचंद्र शुक्ल, *चिंतामणि-2*, उप. पृ. 149
25. रामचंद्र शुक्ल, *चिंतामणि-1*, उप. पृ. 103
26. वही, पृ. 103
27. रामविलास शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, राजकमल प्र. पृ. 21-22
28. वही, पृ. 55
29. वही, पृ. 54
30. नामवर सिंह, *पूर्वग्रह* 44-45, मई-अगस्त 1981, पृ. 70
31. वही, पृ. 66
32. बेसिली नोवीकोव, *Artistic Truth and Dialectics of Creative Work*, (Progressove Pblishers, Moscow, 1981, p. 313
33. वही, पृ. 311
34. जार्ज लूकाच, *Studies in European Realism*, The Merlin Press, London, 1972, p. 107
34. वही, पृ. 123

डा. नामवरसिंह की समीक्षा : निषेध का निषेध चंचल चौहान

यूथ से निकल कर
घनी वनराजियों का आश्रय छोड़कर
गजराज
पर्वत की ओर दौड़ा है :
पर्वत चढ़ेगा।
कोई प्रयोजन नहीं है पर्वत पर
पर
गजराज पर्वत चढ़ेगा ।

--अज्ञेय

डा. नामवरसिंह की समीक्षा का विकास और ह्रास ऐंटीथीसिस के संघर्ष से हुआ है। (गो वे अब संघर्ष के नहीं, विरुद्धों के सामंजस्य के हामी हैं और इसीलिए 'नयी समीक्षा' द्वारा 'माक्सवादी समीक्षा' को उपकृत करना चाहते हैं)। अपनी समीक्षा के विकास में एक बिंदु तक उन्होंने पतनशील विचारधाराओं से संघर्ष किया और उसके बाद स्वयं का निषेध करके पतनशीलता का शिकार हो गये। इस प्रकार उनकी समीक्षा के विकास और ह्रास में हमें निषेध का निषेध मिलता है। वैसे तो सारे ही परिवर्तन ऐंटीथीसिस के संघर्ष और निषेध के निषेध की प्रक्रिया से होते हैं। लेकिन व्यक्ति, समाज और साहित्य के भीतर होने वाले परिवर्तनों में इसका विशेष रोल है। व्यक्ति चिंतन में विकास और ह्रास दोनों इसी प्रक्रिया द्वारा समझे जा सकते हैं।

कोई प्रवृत्ति किसी में अचानक नहीं फूट पड़ती। उसका एक क्रमिक विकास या ह्रास होता है। डा. नामवरसिंह की समीक्षा में प्रगतिशील और प्रतिगामी दोनों ही प्रवृत्तियां रही आयी हैं, उनमें परिमाणात्मक परिवर्तन उनकी समीक्षा को गुणात्मक स्वरूप देता आया है। उनके प्रारंभिक समीक्षा-काल में समाजवादी यथार्थवाद का परिमाण अधिक है और प्रतिगामी विचारधाराओं का कम। अतः गुणात्मक रूप में पचासोत्तर वर्षों की समीक्षा कृतियां सापेक्षतया प्रगतिशील हैं।

साठोत्तरी वर्षों में ऐन्टीथीसिस के संघर्ष में प्रगतिशील तत्वों का निषेध हुआ और रूपवादी बूर्जुआ विचारधारा परिमाण में अधिक व्याप्त हो गयी। फलस्वरूप, *कविता के नये प्रतिमान* तक डा. नामवरसिंह की समीक्षा गुणात्मक रूप से पश्चगामी विचारों की शिकार होकर रूपवादी हो गयी। जिस प्रकार निषेध का निषेध प्रकृति, मनुष्य, समाज आदि में शत प्रतिशत पूर्ण नहीं होता, नये में पुराने के अंश और पुराने में नये के अंश बने रहते हैं, उसी प्रकार डा. नामवरसिंह की आज की समीक्षा में कहीं कहीं शाब्दिक स्तर प्रगतिशील तत्व बचेखुचे मिल जाते हैं, लेकिन वे मात्रात्मक परिवर्तन के निम्न स्तर पर हैं, गुणात्मक रूप में वे अपनी पुरानी समीक्षा का निषेध कर बैठे हैं।

उनके विकास और ह्रास की प्रक्रिया को गेहूं के पौधे के उगने से लेकर घूरा बनने तक की प्रक्रिया से तुल्यित किया जा सकता है। गेहूं का बीज ज़मीन में ऐन्टीथीसिस के संघर्ष से अंकुर बनता है और बीज का निषेध हो जाता है, फिर अंकुर का निषेध होता है तो वह विकसित होता है। पत्तियों के निषेध द्वारा हराभरा पूरा पौधा बन जाता है। अंत में बीज बनने तक उसके हरेभरेपन और जीवनीशक्ति का निषेध हो जाता है तो वह अपनी ज़मीन से कटकर चारा बन जाता है तथा गाय बैल की नांद में सानी के साथ खाये जाने यानी 'निषेध' के लिए तैयार होता है। उसकी अंतिम परिणति 'पूरे कचरे', गोबर, घूरा, उपला और राख में होती है। इस प्रकार ऐन्टीथीसिस के संघर्ष और निषेध के निषेध द्वारा उसका विकास और ह्रास होता है। गेहूं के पौधे की उपलब्धियों यानी दानों को मनुष्य संचित करता है और आगे उन्हें विकसित करता है, उसके ह्रासशील तत्वों यानी भूसे से डागर, गाय बछड़े आदि पशु अपनी जीवनीशक्ति लेते हैं अतः उसका उपयोग मनुष्य और पशु दोनों के लिए है।

विकास-ह्रास के इस प्राकृतिक नियम की चपेट में हमारे देश के कई बुद्धिजीवी आये। भारत के मार्क्सवादी चिंतकों ने भी इस समस्या पर लिखा है और कारणों की तलाश की है। ह्रास की चपेट में आना प्राकृतिक नियम तो है लेकिन आज बुद्धि और ज्ञान से लैस आदमी, कम से कम बौद्धिक ह्रास से अपने को बचा सकता है, बशर्ते वह वैयक्तिक प्रयास करे। प्रकृति के विरुद्ध लड़कर, उसका निषेध करके मनुष्य ने बहुत कुछ उपलब्ध किया और आगे करेगा। अतः इस ह्रास की ज़िम्मेदारी व्यक्ति पर ही आती होगी, समाज में इसके लिए वस्तुगत दशाएं ज़रूर होती हैं। भारत के साठोत्तरी वर्षों में प्रगतिशील तत्व कमजोर हो गये थे। उनमें बिखराव था। भारत-चीन के बीच हुए संघर्षों के दौरान कम्युनिस्टों को बदनाम करने की मुहिम चलायी गयी, आम जनता में भ्रम फैलाया गया था कि कम्युनिस्ट ग़दार हैं, वगैरह वगैरह। इस कष्टप्रद समय में सर्वहारावर्ग और शोषित जनता का नेतृत्व

संकटग्रस्त था। अतः बुद्धिजीवी समुदाय में बहुत लोगों का ईमान डिग गया और वे ह्वास की चपेट में आ गये। 'अकविता' तथा अन्य ह्वासोन्मुखी साहित्य प्रवृत्तियों के मूल में यही गिरावट थी। जो सजग थे, गहरी आस्था से उदीयमान शक्तियों से जुड़े थे उन्होंने अपना ईमान न जाने दिया। मुक्तिबोध नागात्मक कविताओं से कह रहे थे :

ओ नागात्मन् !
संक्रमणकाल में धीर धरो,
ईमान न जाने दो।

संकटकाल में ईमान वही आदमी संभाल पाया जिस में जीवनशक्ति अधिक थी, वही अपनी ज़मीन से जुड़ा रहा। इसके विपरीत जो कमजोर था, दुलमुल था वह अंततः उखड़ गया। प्रगतिशील शक्तियों पर संकट आये और आयेंगे, लेकिन ऐन्टीथीसिस के संघर्ष में अंतिम विजय उन्हीं की होगी, यह विश्वइतिहास ने सिद्ध कर दिया। लेकिन यह विजय अपने आप नहीं होगी, न कहीं अपने आप हुई है। वियतनाम की प्रगतिशील ताकतों ने तीस वर्ष के संघर्ष के बाद अमेरिका जैसी साम्राज्यवादी शोषक शक्ति को परास्त कर दिया। लेकिन यह सब अपने आप नहीं हुआ। हर देश में बुद्धिजीवी ही संकटकाल में गड़बड़ा जाता है, बच पाता है वह जो सही अर्थों में अपने को व्यक्तित्वांतरित कर लेता है, वर्गापसरित हो लेता है। जहां 'सर्व फॉर आइडेन्टिटी' लक्ष्य होता है, वहां तो चोला बदलने में देर ही नहीं लगती। फिर आदमी अपनी आइडेन्टिटी खोकर उस चोले की आइडेन्टिटी में बदल जाता है। उसका व्यक्तित्व, व्यक्तित्व न होकर टी.ई. ह्यूम के शब्दों में 'मुखौटों की एक श्रृंखला होता है। अस्तु।

डा. नामवरसिंह की समीक्षा की शुरुआत भाषा की खोज से हुई और उसका अंत काव्यभाषा के प्रतिमानों की खोज के साथ हो गया। बीच के समय में प्रकाशित, *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, छायावाद और इतिहास और आलोचना*, सापेक्षतया उनकी प्रगतिशील समीक्षाकृतियां हैं। इनका रचनाकाल छठे दशक का पूर्वार्द्ध है। *इतिहास और आलोचना* का प्रथम 'अन-आधिकारिक संस्करण' फरवरी 1956 में सत् साहित्य प्रकाशन, बनारस से निकला था, प्रथम 'आधिकारिक संस्करण, फरवरी 1962 में प्रकाशित हुआ, लेकिन रचनाएं पहले की ही हैं। *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां* और *छायावाद* की रचना उससे पूर्व की है। हिंदी साहित्य में पचासोत्तरी दशक में प्रगतिशील आंदोलन कमजोर पड़ रहा था। प्रतिक्रियावादी तत्व साहित्य को राजनीति से तथा सामाजिक ईमानदारी से अलग तथा स्वायत्त घोषित करने में लगे थे। दो विचारधाराओं का ऐंटीथीसिस का संघर्ष हो रहा था। प्रगतिवादी विचारधारा ने जिन्हें वैज्ञानिक तर्कपद्धति दी थी वे कलावादियों से टकरा रहे थे। नामवरजी, फार्म

के प्रति अतिरिक्त मोह के बावजूद प्रतिक्रियावाद से लोहा ले रहे थे तथा उसे खंडित कर रहे थे। *इतिहास और आलेचना* के निबंध उसी संघर्ष का परिणाम थे। उनमें समाजवादी यथार्थवाद की हल्की सी झलक थी। डा. नामवरसिंह की समीक्षा का इतना हिस्सा प्रतिबद्ध समीक्षा के काम है, अतः उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ* और *छायावाद* में भी उनकी समीक्षा का यही स्वरूप था, यद्यपि काव्यभाषा के प्रति अतिरिक्त मोह उस समय भी था, लेकिन वह मोह अतिवाद नहीं बना था।

धीरे धीरे वस्तुगत कारणों से प्रगतिशील विचारधारा को धक्का लगा और डा. नामवरसिंह की समीक्षा भी गड़बड़ाने लगी। साठोत्तरी वर्षों में, उनके भीतर बीजरूप में विराजमान रूपवाद विकसित होकर अमरवेलि की तरह फैल गया और प्रगतिशील चिंतन का हरा भरा पौधा ह्रासग्रस्त हो गया। अपने पूर्ववर्ती रूप का निषेध करने के लिए उन्होंने अपने समय की भारतीय व्यवस्था के ही अनुरूप, अमेरिकी सहायता से 'नयी समीक्षा' उधार ली। भारतीय अर्थव्यवस्था पी एल 480 के तहत अमेरिका से सड़ा अनाज ले कर राशन में बांट रही थी। यथा अन्न, तथा मन। उस सांस्कृतिक शून्य को ज़्यादातर पतनशील सड़ी गली प्रवृत्तियों ने भरा और डा. नामवरसिंह ने उन्हें भाषायी परिष्कार से उदात्तीकृत किया। इस प्रकार उन्होंने खुद का ही निषेध का निषेध किया। आइए देखें कैसे?

छायावाद के अंतिम लेख में डा. नामवरसिंह ने लिखा था :

विरोध और प्रतिक्रिया परंपरा के स्वाभाविक विकास के ही सूचक हैं क्योंकि विकास का अर्थ सदैव परिपाटी-पालन ही नहीं होता। कोई भी विकास विरोध के बिना घटित नहीं होता।

यद्यपि यह कथन अपने में आत्यंतिक नहीं है, क्योंकि विकास और ह्रास दोनों ही ऐंटीथीसिस के संघर्ष से परिचालित होते हैं, विरोध किसका और कब करना चाहिए उसमें अक्ल लगाना भी ज़रूरी होता है, तथा उक्त कथन प्रतिक्रियावाद के विरोध में कहा गया था, अतः अपने सदर्भ में वह प्रतिबद्ध समीक्षा का हिस्सा था। वही डा. नामवरसिंह आज के प्रतिबद्ध लेखन से नाराज़ होकर यह कहने लगे हैं : 'व्यवस्था-विरोध पर विशेष बल देने के कारण यह लेखन वस्तुतः एक विरोधी लेखन होने की नियति स्वीकार लेता है।'

डा. नामवरसिंह को यह विरोध विकास का सूचक नहीं लगता जबकि यह लेखन पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था का विरोध और निषेध करने को आतुर है जिससे कि शोषणविहीन और सही अर्थों में मानवीय जनवादी व्यवस्था की स्थापना हो। उनका स्वयं का विकासकाल का लेखन व्यवस्थाविरोध पर विशेष बल देता था, किंतु आज वे 'वे' नहीं हैं।

इतिहास और आलोचना में 'व्यापकता और गहराई' का लेखक सापेक्षता प्रगतिशील है। वह समाजवादी यथार्थवादी चिंतनधारा के लिए प्रासंगिक है क्योंकि वह उस समय के प्रतिक्रियावादी आलोचना संपादक से टकरा रहा था। डा. नामवरसिंह के उस समय के प्रतिबद्ध दृष्टिकोण के कारण उनके कथनों में हमारा युगसत्य बोल रहा था। साहित्य को सामाजिक उद्देश्य से काटने तथा उसकी स्वायत्तता घोषित करने वाले लेखकों के वर्गीय उद्देश्यों पर तर्कसंगत प्रहार करना उस समय के डा. नामवरसिंह की खूबी थी। आज उनके वे ही शब्द उन्हीं पर प्रहार कर रहे प्रतीत होते हैं।

निरुद्देश्यता के कार्यक्रम का पहला सूत्र यह है कि साहित्य का संबंध समाज से काट दिया जाये क्योंकि समाज के साथ बंधे रहने पर कुछ न कुछ सामाजिक कर्तव्य का बंधन रहेगा ही। फलतः 'वक्र रेखा'के अन्वेषक ने स्थापित किया कि जिन कारणों से साहित्यिक प्रतिच्छाया में विकृति उत्पन्न होती है उनके पीछे साहित्य और सौंदर्य के अपने नियम हैं जो सामाजिक आवश्यकता के वावजूद काम करते हैं।²

आज के डा. नामवरसिंह अब यह कहने लगे हैं कि 'प्रश्न कवि की 'सामाजिक' ईमानदारी का नहीं बल्कि उसकी 'साहित्यिक' ईमानदारी का है और कहना न होगा कि कविता के मूल्यांकन में यदि प्रासंगिक है तो यह 'साहित्यिक' ईमानदारी ही।' स्पष्ट है कि वे साहित्य को समाज से काटकर देख रहे हैं और उसकी स्वायत्तता की वकालत करने लगे हैं। वे पहले 'सौंदर्य के अपने नियम' बनाने वालों की खासा ख़बर ले रहे थे, आज खुद 'खेल का नियम' की राजनीति के शिकार हैं :

उस कविता से संबंधित चाहे जितनी बाहरी सूचनाएं उसे उपलब्ध हों किंतु 'खेल का नियम' के मुताबिक आलोचक उन सूचनाओं से सर्वथा अनभिज्ञ है।³

एक ज़माना था जब डा. नामवरसिंह ने इस प्रवृत्ति को 'कछुआ-धर्म' कहा था, आज वे स्वयं जानबूझकर ओढ़ी गयी 'अनभिज्ञता' की वकालत कर रहे हैं। निषेध का निषेध उन्हें रूपांतर की उस स्थिति में डाल चुका है जिसमें वे 'स्थितधी' हो गये हैं, यों तो अभी भी वे बाहरी सूचनाओं का काफ़ी ज्ञान रखते हैं, मगर जिस स्रोत से भाषा का 'क्रीड़ाभाव' और 'लीलाभाव' अपनाया उसी स्रोत से जॉन हास्पर्स का यह कथन उनके पल्ले क्यों नहीं पड़ा :

हमें ऊपरी तौर पर उपलब्ध प्रासंगिक सूचनाओं से अपने को अलग नहीं कर लेना चाहिए। यदि कृतिकार कृति से बाहर कोई प्रकाश देता है और यदि हम उस प्रकाश स्रोत को स्वीकार नहीं करते तो महज़ अपने को ही धोखा दे रहे होते हैं।¹⁴

नामवर जी ने छायावाद का विश्लेषण जिस नज़रिये से किया था उसका निषेध करके *कविता के नये प्रतिमान* में साठोत्तरी पतनशील कवियों को जी भर कर सराहा। वे किसी भी कविता के कथ्य की वकालत न कर सके बल्कि उस पर लीपापोती कर दी और रूपवाद के सहारे उन्हें 'महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारी' इसलिए घोषित किया क्योंकि उनमें भाषाई चमत्कार 'विडम्बना', 'नाटकीयता' 'तनाव', 'कीड़ाभाव' व 'लीलाभाव' आदि गुण थे। समीक्षा के ह्रास का खुला सबूत तब पेश हुआ जब हमें धर्मवीर भारती और मुक्तिबोध के कथ्यों को एक ही साबित करने की उनकी कामना स्पष्ट दिखायी दी जबकि दोनों के कथ्य एक दूसरे के विरोधी हैं, ऐन्टीथीसिस हैं। सर्च फ़ॉर आइडेंटिटी की कस्तूरी ढूंढी तो भेदबुद्धि जवाब दे गयी। भेदबुद्धि तभी तक रहती है जब तक दृष्टि और प्रकाश होता है, दृष्टिहीनता और अंधकारप्रियता में सभी एक से दीखते हैं, फ़र्क करना मुश्किल होता है।

आज डा. नामवरसिंह सारे धान बाइस पसेरी तोल रहे हैं। भाषागत विडम्बना हो तो प्रतिक्रियावादी रचनाएं भी उन्हें मोहती हैं। 'विडम्बना के सर्जनात्मक उपयोग का गहरा अहसास' आज उन्हें धर्मवीर भारती और मुक्तिबोध में अंतर नहीं करने देता। *अंधायुग* के विषय में उन्होंने अपनी पुस्तक, *इतिहास और आलोचना* में कभी लिखा था :

अभी कुछ दिन पहले 'अंधायुग' नामक एक गीत नाटक निकला है, जिसमें स्वतंत्रता, दायित्व, मर्यादा आदि मूल्यों के साथ आस्था की भी स्थापना की गयी है। परंतु लेखक की आस्था का यह हाल है कि अंत में सबके दायित्व की गठरी अपने सिर पर बांधकर उसके 'प्रभु' स्वर्ग की ओर चल देते हैं किंतु धरती के पामर प्राणियों को परितोष देने के लिए कहते जाते हैं कि मैं जल्द ही उतरूंगा... कोई आश्चर्य न करे, 'अंधायुग' का लेखक भी अपने को तमाम पार्टियों से स्वतंत्र, विवेकवान अथच आस्थावान कहता है।¹⁵

यह विडम्बना की ही विडम्बना है कि वही *अंधायुग* अब मुक्तिबोध की 'चम्बल की घाटी में' और 'अंधेरे में' से भी एक दर्जा ऊंचा स्थान पा लेता है। *अंधायुग* के 'मार्मिक' प्रसंगों में से दो प्रहरियों का कथोपकथन उन्हें इसलिए मोहता है क्योंकि वे प्रहरी निरुद्देश्य 'दायें' से बायें और बायें से दायें' चलते रहते हैं। अब डा.

नामवरसिंह को लगता है कि 'महाभारत के सर्वनाश की त्रासदीय पीठिका में प्रहरियों का यह आत्मतुष्ट स्वर अपनी अगंभीरता द्वारा समूचे संदर्भ को और भी भावगंभीर बना देता है और इस कारण इस त्रासदी की छाया और गहरी हो जाती है'। यह 'आत्मतुष्ट स्वर' दो प्रहरियों का हो या न हो, हमारे बहुत सारे प्रहरी बुद्धिजीवियों का ज़रूर है जो सोद्देश्य 'दायें से बायें और बायें से दायें' चलते रहते हैं।

लेकिन सवाल उठता है कि क्या केवल भाषागत 'विडम्बना' से ही कोई कृति महान हो जाती है? रूपविश्लेषण तक ही क्या समीक्षक को सीमित रहना चाहिए, क्या उन कृतियों का 'अंतर्निहित रुझान' तलाश करना ज़रूरी नहीं है? उनकी वर्गीय वैचारिक स्थिति की पड़ताल किये बिना जो समीक्षा की जाती है, उसमें सामाजिक ईमानदारी का अभाव होता है। प्रगतिशील और प्रगतिविरोधी दोनों ही प्रकार के कथ्य क्रीड़ाभाव से उत्पन्न होने वाली 'विडम्बना' में सजाकर पेश किये जा सकते हैं बल्कि प्रगतिविरोधी कथ्य को अधिक सजावट का फार्म अख्तियार करना होता है, नकली सोने की चमक असली से कहीं अधिक होती है। प्रश्न यह है कि क्या दोनों का मूल्यांकन एक ही हो? रोज़मर्रा के जीवन में इसे तो कोई भी स्वीकार न करेगा, फिर राजनीति और साहित्य में इस समीक्षाप्रणाली के प्रति इतनी आसक्ति क्यों। रूपवादी समीक्षाप्रणाली का आधार जालसाज़ों बेईमानों, शोषकों की छल की राजनीतिक विचारधारा से जुड़ा है क्योंकि फार्म को कंटेंट मनवाने पर ये ही सबसे अधिक जोर देते हैं।

डा. नामवरसिंह की समीक्षा का ह्रास इसीलिए हुआ क्योंकि वह छल की राजनीति की विचारधारा से जुड़ती गयी, रूपवादी होती गयी। वे काव्यभाषा के प्रतिमान स्थापित करने में अपने को मात्र 'शब्द' से संतुष्ट मानने लगे, उसके 'अंतर्निहित रुझान' से उनका कोई सरोकार नहीं रहा। इसीलिए उनकी भेददृष्टि क्षीण हो गयी और इसीलिए धर्मवीर भारती और मुक्तिबोध में उन्हें अंतर नहीं दिखायी दिया। इस अभेददृष्टि के कारण वे कह उठे :

संरचना की सघनता, शब्दों की मितव्ययिता, भावों की विडम्बना निर्मित जटिलता भावावेशहीनता एवं विचारों की तीक्ष्णता आदि काव्यगुणों के कारण ही इस प्रकार की कविताएं आज के काव्य में महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारी हो जाती हैं।¹⁶

यह ध्यान देने योग्य है कि उक्त काव्य गुणों में कथ्य के वर्गीय होने या सामाजिकता को लेकर कुछ भी नहीं कहा गया है। एक ज़माना था जब वे 'कला सौंदर्य का आधार' तलाश करने के लिए कह रहे थे :

रूपविधान पर विशेष बल देना ग़लत है। विषय वस्तु पर बल देना ही सही भूमिका है।¹⁷

अब उस 'सही भूमिका' का निषेध करके वे 'संरचना की सघनता' की ग़लत भूमिका पर उतर आये हैं। यद्यपि कविता के रूप के प्रति अतिरिक्त आग्रह उनमें शुरू से ही था लेकिन शुरू का आग्रह परिमाण में इतना नहीं था, इसीलिए यह समीक्षा गुणात्मक रूप से भिन्न थी। रूप के प्रति उदासीन न होने की बात मार्क्स, लेनिन और लूनाचाव्स्की, बल्कि प्लेखानोव ने भी और अद्यतन मार्क्सवादी चिंतकों तक ने कही है। सच्चे मार्क्सवादी और प्रगतिशील कलाकारों ने दोनों दृष्टियों से उच्च कलाकृतियां हमें दी भी हैं। रूपवादी समीक्षा इन कृतियों रूप में 'संरचना की सघनता' देखकर चुक जाती है। वह, यह सिद्ध करती है कि रूप ही कथ्य है। उसका 'अंतर्निहित रुझान' पाठक को 'क्रीड़ाभाव' या 'मजे' में उलझाये रखना होता है। कथ्य में घुसने पर तो बनी ठनी 'कनुप्रिया' सूर्पनखा लग सकती है। इसीलिए प्रतिक्रियावादी रूपवादियों का कथ्य पर बात करने पर बल नहीं रहा। वे कह रहे हैं कि कथन ही कथ्य है, भाषा ही भाव है, फ़ॉर्म ही 'कंटेंट' है। अभी पिछले दिनों यही बात, नारे के रूप में, अमेरिका के प्रतिक्रियावादी नये मुल्ला हर्बर्ट मार्शल मैक्लूहान ने उठायी। उसने कहा 'फ़ॉर्म इज़ कंटेंट'। हमारे यहां सातवें दशक में यही बात पहले डा. नामवरसिंह ने कही फिर अशोक वापेयी ने दुहराई कि 'कथ्य और शिल्प एकमेक होते हैं। वैसे इस बात को लेकर सभी देशों के प्रमुख दर्शनों में प्राचीनकाल से झगड़ा होता आया है। हमारे यहां भी सांख्य, न्यायवैशेषिक, चार्वाक आदि दर्शनों में इस पर विचार हुआ है। एक वर्ग कहता रहा कि फ़ॉर्म ही कंटेंट है। 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'। दूसरा वर्ग कहता रहा कि उनमें भिन्नता होती है, 'कथनी कथी तो क्या भया जे करनी ना ठहराय'। प्रश्न यह है कि इन दोनों में झगड़ा क्यों है? क्या दर्शन की इस टकराहट का कोई सामाजिक राजनीतिक आधार भी है?

समाज में रोज़मर्रा के कामों में हम अधिक यथार्थवादी होते हैं। साहित्य में अभेददृष्टि वाले भी बाज़ार में जाकर भेददृष्टि का ही उपयोग करते हैं। अगर नहीं करते तो ठगे जाते हैं। दिल्ली में चांदनीचौक की पटरियों पर बड़े सेठों के कुछ एजेंट टेरीलीन के टुकड़े बेचते हैं, वे सौगंध खाकर कहते हैं कि इन टुकड़ों का फ़ॉर्म ही कंटेंट है, जबकि 'फ़ॉर्म' टेरीलीन 'कंटेंट' में का कच्चा सूत भी नहीं होती। सेना से छुट्टी पर आने वाले सिपाहियों से इस शोषण का समाचार सुना जा सकता है। हमें आपको भी पिसे हुए धनिये के फ़ॉर्म में घोड़े की लीद कभी भी हाथ लग सकती है,

फलों के जूस के फॉर्म में हानिप्रद रसायन का कंटेंट अक्सर पी जाते हैं। हमारे यहां लोभलाभवादिनी सत्ता अपने फॉर्म में 'प्रजातंत्र है, कंटेंट में पूंजीपतियों व सामंतों का अधिनायकवाद ही है। यह अंतर्विरोध तो समाजवाद तक में रहता है। फॉर्म में सर्वहारा का अधिनायकत्व कंटेंट में जनवाद होता है। इसका यह अर्थ नहीं फॉर्म और कंटेंट के अलग अलग कटघरे हैं। वे अंतर्विरोधी होते हुए भी एक दूसरे से अंतःसंबंध रखते हैं, वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। पुराने फॉर्म में नया कंटेंट पनपता है, गुणात्मक परिवर्तन के साथ नया कंटेंट पुराने फॉर्म को तोड़ देता है।¹⁸ नये फॉर्म में पुराने के अवशेष बने रहते हैं। यह प्रक्रिया प्रकृति, समाज, विचार और साहित्य सभी में चलती है।

वर्ग समाज में शोषकवर्ग की विचारधारा रूपवादी होती है, अतः उसके गुलाम यह प्रचार करते रहे हैं कि जो फॉर्म है उसी को कंटेंट मानो। सामंती शोषण के वक्त ऐसा ही नारा दिया गया। पूंजीवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों के अनुचरों ने भी अभेद बुद्धिवादी रास्ता अपनाए की सलाह दी। अमेरिका की 'नयी समीक्षा' की विचारधारात्मक कल्पना का आधार साम्राज्यवादी मानसिकता है। वे नव उपनिवेशवाद के कंटेंट को भ्रामक फॉर्म 'प्रजातंत्र की रक्षा', 'मानव हितों की रक्षा', 'गरीब देशों की सहायता' देकर विश्व के व्यापक जनसमूह का शोषण अभी भी कर रहे हैं। उनकी फॉर्म में 'आर्थिक सहायता' या 'पी.एल.480' अपने 'कंटेंट' में हमारे देश पर शोषण का पंजा बरकरार रखना था। लेकिन वे प्रचार यहीं करेंगे कि वे भारत को इतने डालर की 'सहायता' कर रहे हैं। इसीलिए उनकी फ़ासिस्ट ताकतों ने भी यही आग्रह किया कि फॉर्म को ही कंटेंट मानो। पिछले दिनों अमेरिका के प्रगतिशील समीक्षक जीन बैल ने ऐलेन टेट आदि 'नये' समीक्षकों को उनके वक्तव्यों व लेखों के साक्ष्य देकर उनके फ़ासिस्टी रुझान को स्पष्ट किया है जो सही है।

हिंदी में आयी 'नयी समीक्षा' के पीछे भी पूंजीवादी प्रतिक्रियावादी विचारधारात्मक कल्पना थी। उसे अतीत की शोषण व्यवस्थाओं के सौंदर्यशास्त्रीय आधार से पुष्ट कर दिया गया। डा. नामवरसिंह ने बिना आलोचनात्मक हुए नये प्रतिमानों को स्वीकार कर लिया और वे अभी तक 'नयी समीक्षा' को नकारने में सक्षम नहीं हैं। बल्कि 'नयी समीक्षा' के डिफेंस में वे कहते हैं कि '...हिंदी के नये मार्क्सवादी आलोचक अंग्रेज़ी की 'नयी समीक्षा' के प्रति ज़रूरत से ज़्यादा शंकालु हैं।'¹⁹

दरअसल, डा. नामवरसिंह ज़रूरत से ज़्यादा आश्वस्त हैं कि 'नयी समीक्षा' के द्वारा वे मार्क्सवादी समीक्षा में हुई तथाकथित रूप की क्षति की पूर्ति कर सकेंगे। वे अमेरिका 'नयी समीक्षा' से विचारधारात्मक संघर्ष न करके उसके रूपवादी रुझान का शिकार हो गये। अतः उससे सामंजस्य की बात करते हैं। उनकी समीक्षा की

हालत काबिले गौर है। इतिहास और आलोचना में उन्होंने 'नयी कविता' के रूपविधान पर टिप्पणी की थी :

ज़ाहिर है कि नये रूपविधान के पुरस्कर्ता प्रगतिशील कवि हैं और उसका निर्माण प्रगतिशील आंदोलन के दौरान हुआ है।¹⁰

जिस आलोचक को 'रूपविधान' के उत्स का पूरा अतापता था, उसकी वह समझ अब 'विसंगति' का शिकार हो गयी। डा. नामवरसिंह को पूरा अहसास था कि प्रगतिशील आंदोलन द्वारा निर्मित नये फॉर्म को पतनशील शक्तियों ने अपनाया। उन्होंने लिखा कि 'पीछे इस नये रूप विधान में अधिकांशतः ह्रासोन्मुखी भावों की ही कविताएं लिखी गयीं।' उन्हीं डा. नामवरसिंह को साठोत्तरी बूर्जुआ कवियों के 'ह्रासोन्मुखी भावों' की पहचान न हो सकी। 'मरे ने मरा पकड़ा टेर कौन करे'। वे मुक्तिबोध की आड़ में सातवें दशक के पतनशील बूर्जुआ संस्कृति के प्रतिनिधि कवियों की वकालत करते हुए उनके शिल्प पर न्योछावर हैं। वे आज भूल गये हैं कि अज्ञेय से तो 'ह्रासोन्मुखी भावों' की शुरुआत हुई थी, उसका निकृष्टतम रूप तो साठोत्तरी पतनशील कविता में है। उनमें श्रीकांत वर्मा में तो वह 'सड़ांध' की हद तक है। मगर डा. नामवरसिंह को अब श्रीकांत वर्मा तुलसीदास से भी ऊंचे कलाकार नज़र आते हैं। 'मायादर्पण' शीर्षक कविता के विषय में उनकी टिप्पणी देखने लायक है :

शुरू का शाब्दिक खिलवाड़ अंत तक जाते जाते 'मैं हो रहा हूँ' की जिस अर्थ गंभीरता में परिणत होता है, वह आज की कविता में एक उपलब्धि है। 'अरथ अमित अति आखर थोरे' के ऐसे उदाहरण आज कम ही मिलते हैं।¹¹

उक्त तारीफ़ उस उद्धरण की है जिसकी पहली पंक्ति है, 'मैं हर एक नदी के साथ/ सो रहा हूँ' और जिसका अंत है, 'मैं हो रहा हूँ...' कवि की यौनकुंठित मानसिकता के अनुसार उसका अर्थ 'स्खलन' या 'वीर्यपात' है, स्त्री-रति के प्रति आब्सैशन के प्रमाण जिरह और जलसाघर में भरे पड़े हैं, किंतु डा. नामवरसिंह को उसमें 'अस्मिता की खोज' ('मैं हो रहा हूँ') का अस्तित्ववादी दार्शनिक मुहावरा नज़र आया और इसीलिए श्रीकांत वर्मा आधुनिक तुलसीदास हो गये। साठोत्तरी 'स्खलन' की कविता से बुरी तरह जुड़ने के कारण ही डा. नामवरसिंह की समीक्षा का स्खलन हो गया। वे, प्लेखानोव की तरह तो दूर, अपने ही पिछले विचारों के प्रकाश में सातवें दशक की पतनशील कविता को समीक्षित न कर सके। इसीलिए उनकी आज की समीक्षा 'लगभग जयहिंद' हो गयी है।

इतिहास और आलोचना के लेखक डा. नामवरसिंह भविष्य की विकासोन्मुख शक्तियों से जुड़े थे, अतः उस समय के वर्तमान का, सत्ता का निषेध चाहते थे, कहानी *कहानी*, *नयी कहानी* तक आ कर वे अतीत व भविष्य दोनों से कट गये, वे अस्तित्ववादी या सत्तावादी (वर्तमानवादी) हो गये। प्रमाण के लिए देखिए। एक समय वे *इतिहास और आलोचना* में कह रहे थे : 'सामाजिक यथार्थ का होना ही काफी नहीं है, बल्कि भावी स्वप्न का स्वरूप भी स्पष्ट रहना चाहिए, जिस पर लेखक की आस्था हो।'¹²

अब *कहानी नई कहानी* में इससे उलट वक्तव्य यों है कि 'यह भी विडंबना ही है कि नितान्त क्रांतिकारियों और शाश्वतवादियों के निष्कर्ष एक ही थे। विचार के क्षेत्र में प्रायः इसी तरह दो ध्रुवांत एक ही बिंदु पर मिलते हैं।'¹³ उसके बाद *कविता के नये प्रतिमान* तक आते आते वे यह सोचने लगे कि 'इस संदर्भ में सामान्य रूप से दो प्रकार के भ्रांत पाठकों की चर्चा की जा सकती है : एक तो अतीतजीवी अबोध अथवा जड़ पाठक, दूसरे भविष्यजीवी सामाजिक जागरूक पाठक, किंतु इस मामले में दोनों प्रकार के पाठक एक हैं कि दोनों ही के सिर हर समय 'सामान्यताओं' से भन्नाते रहते हैं।'¹⁴

उक्त उद्धरणों से यह तो स्पष्ट है कि वे अब अपना ही आगापीछा नहीं सोचते, वे न 'भविष्य जीवी सामाजिक जागरूक पाठक' रहे जो वे पहले थे और न 'अतीतजीवी अबोध अथवा जड़ पाठक।' वे तो स्वर्णिम मध्य के वर्तमानवादी या सत्तावादी होशियार पाठक हैं। 'जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी दीजे' का ही नाम समझदारी है, 'साहित्यिक ईमानदारी' भले न हो।

वर्गविभक्त समाज में रचनाएं -- सृजनात्मक व समीक्षात्मक दोनों ही -- जब अस्तित्व में आती हैं तभी उनकी वर्गीय स्थिति स्पष्ट होती है। विज्ञान तक की अवधारणाएं अवर्गीय नहीं हैं, समीक्षा के प्रतिमानों की भी वर्गीय स्थिति है, भले ही कोई उधारजीवी पराश्रयी समीक्षक उन्हें पूरी 'साहित्यिक ईमानदारी' के साथ यह मानकर पेश कर रहा हो कि वह तो वर्गेतर शुद्ध साहित्यिक वैज्ञानिक प्रतिमान दे रहा है। इन प्रतिमानों की वर्गीय स्थिति का आकलन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर -- रूस में, अमरीका में भारत में भी -- हो चुका है।

रूस के आज के समीक्षक सर्गेई मोझन्यागुन अभी भी इस मत के हैं कि 'बुर्जुआ और कम्युनिस्ट विचारधारा के बीच सहअस्तित्व हर्गिज नहीं हो सकता।'¹⁵ डा. नामवरसिंह अपनी समीक्षा के ह्रास की लीपापोती करने के लिए दोनों के सामंजस्य के लिए व्यग्र हैं। इस सामंजस्य के लिए उन्होंने अपनी रचनाशीलता की बलि तक चढ़ा दी है।

निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि डा. नामवरसिंह के दो रूप

हैं। पहला, अतीत का प्रगतिशील समीक्षक रूप और दूसरा पहले का ऐंटीथीसिस प्रतिक्रियावादी रूप जिसने पहले का निषेध कर दिया है। यद्यपि इस निषेध के सामाजिक ऐतिहासिक कारण भी रहे हैं, किंतु उन कारणों से सजग व्यक्ति के बदल जाने को नज़र अंदाज़ नहीं किया जा सकता। यह सही है कि सातवें दशक में सर्वहारावर्ग की एकता और उसकी विचारधारा इतना सशक्त नहीं थी जो मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को आकर्षित कर पाती। अतः लोग भटक गये तो यह आश्चर्य की बात नहीं। लेकिन फिर भी मुक्तिबोध सरीखे बहुत से लेखक जो अपनी सर्वहारावर्गीय वैचारिक आस्था से जुड़े थे वे उस संक्रमणकाल को भी पार कर गये। बहरहाल, डा. नामवरसिंह का प्रथम रूप प्रतिबद्ध समीक्षा के काफ़ी काम का है, वह आलोचनात्मक यथार्थवाद की प्रगतिशील परंपरा का अंग है। उनका दूसरा रूप सिर्फ़ इसलिए प्रासंगिक है क्योंकि उससे ऐंटीथीसिस का संघर्ष करके इन सत्तरोत्तरी बरसों में नयी प्रतिबद्ध समीक्षा तेज़ी से विकसित हो रही है। नये दौर के मार्क्सवादी लेखकों ने उनकी रूपवादी समीक्षा का विश्लेषण-संश्लेषण करके उसकी असलियत को सामने रखा। नयी प्रतिबद्ध समीक्षा आज के सत्तरोत्तरी दौर में रूपवादीयों से रचनात्मक विचारधारात्मक संघर्ष कर रही है। रूसी समकालीन समीक्षक अलेक्सान्द्र ट्रिभिश्त्ज़ ने कहा है कि ‘...सारी रूपवादी और सूक्ष्मतावादी विचार परंपराएं न सिर्फ़ परायी बल्कि यथार्थवादी कला को नुक़सान पहुंचाने वाली हैं। इस मुद्दे पर किसी तरह के समझौते या सामंजस्य की बात संभव ही नहीं है।’¹⁶

अतः संघर्ष जारी है। वर्गसंघर्ष की आंच से प्रभावित यह विराट् जनवादी अभियान, अनेक भयंकर संकटों के बावजूद, जारी रहेगा क्योंकि शोषित मानव समाज सामाजिक विकास के रास्ते में अवरोध पैदा करने वाली ताक़तों से लोहा लेता आया है भले ही कभी कभी नकारात्मक संभावनाओं ने इस धारा को रोक दिया हो लेकिन अंतिम विजय तो उसी की होनी है। खुद डा. नामवर सिंह ने ही अपने प्रगतिशील समय में यह कहा था और ठीक ही कहा था कि

इस विराट् जनवादी अभियान में जो रुका सो छूटा, जिसने इसका विरोध करने की हिमाकत की वह गया और जिसने इसके उद्देश्य और कार्य में संदेह प्रकट किया, वह संदेहवादी टूटा...¹⁷

कंक पत्रिका में प्रकाशित

संदर्भ

1. आलोचना-29 का संपादकीय
2. इतिहास और आलोचना, पृ. 10
3. कविता के नये प्रतिमान, प्र.सं. पृ. 108
4. *Journal of Aesthetics and Art Criticism* (Fall, 1960)
5. इतिहास और आलोचना, पृ. 89
6. कविता के नये प्रतिमान, प्र.सं. पृ. 105
7. इतिहास और आलोचना, पृ. 36
8. राजकुमार सैनी, पश्यंती(माक्स अंक), 1976, पृ. 101-02
9. कविता के नये प्रतिमान, द्वि.सं. पृ. 12
10. इतिहास और आलोचना, पृ. 69
11. कविता के नये प्रतिमान, प्र.सं. पृ. 169
12. इतिहास और आलोचना, पृ. 36
13. कहानी : नयी कहानी, पृ. 233
14. कविता के नये प्रतिमान, प्र.सं. पृ. 37
15. *The Problems of Aesthetics*, p. 259
16. वही, पृ. 285-86
17. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां

मुक्तिबोध का आलोचनात्मक विवेक

चंचल चौहान

हमारी हिंदी की आधुनिक आलोचना विधा जो कि उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में शुरू हुई अब काफी आगे बढ़ चुकी है। वह विश्व के किसी भी साहित्य से पीछे नहीं है, उसका 'भूमंडलीकरण' काफी पहले ही हो गया था, यानी दुनिया के किसी भी देश में होने वाली आलोचनात्मक गतिविधि से सीखने और विभिन्न पद्धतियों को आत्मसात् करने में हिंदी आलोचना सदैव आगे रही और इसीलिए अब वह एक समृद्ध साहित्यिक विधा है। इसे विकास की चोटी तक पहुंचाने में मुक्तिबोध का जो योगदान है, वह सचमुच अभूतपूर्व और अनूठा है। मैंने अंग्रेजी में मुक्तिबोध पर लिखे एक लेख में यह कहा था कि मुक्तिबोध ने यदि यही लेखन अंग्रेजी में किया होता तो वे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के महान चिंतक और रचनाकार होते, मगर उन्होंने उस हिंदी में लिखा जिसे एक ज़माने में रघुवीर सहाय ने 'एक दुहाजू की नयी बीवी' कहा था, जिसमें लिखे गये साहित्य को (अपने 'अज्ञान' या 'पूर्वग्रहों' के कारण) कोई भी सलमान रुश्दी कूड़ा साबित कर सकता है। यों तो अभी तक औपनिवेशिक मानसिकता की भूतबाधा से ग्रसित भारतीय बुद्धिजीवी भी मुक्तिबोध के लेखन की ऊंचाई से परिचित नहीं हैं, खुद हिंदीभाषी विद्वानों ने भी शायद ही यह तकलीफ़ गवारा की हो कि उनके लेखन को पढ़ें और यह महसूस कर सकें कि उनके साहित्य में भी इतना बड़ा चिंतक और रचनाकार हुआ है जो विश्वस्तर के किसी भी महान रचनाकार से ज्ञान और कला में पीछे नहीं ठहरेगा। जहां रचनात्मक साहित्य में वे उत्कृष्ट कोटि के सर्जक हैं, वहीं आलोचनात्मक साहित्य में भी वे अनूठे हैं। उन जैसी मौलिकता और अंतर्दृष्टि विरल है। हमारे समाज की विभिन्न बौद्धिक संरचनाओं—साहित्य, इतिहास, राजनीति आदि—पर जिस गहरे और विवेकपूर्ण नज़रिये से उन्होंने लिखा वह भी अचंभे में डाल देने वाला है क्योंकि वह नज़रिया अपने पीछे कितने बड़े विश्वज्ञान के भंडार को समेटे है, यह उनकी रचनाओं को पढ़ने से पता चलता है, उन्होंने दुनिया भर के साहित्यों और दर्शनप्रणालियों से मुठभेड़ की थी और अपना एक पक्ष चुना था, जिस पक्ष को उन्होंने मार्क्सवाद की संज्ञा दी थी। उनका लेखन मार्क्सवादी विश्वदृष्टि के रचनात्मक व्यावहारिक प्रयोग का बेहतरीन आदर्श है।

मुक्तिबोध का आलोचनात्मक लेखन उनके रचनात्मक लेखन से गुण और मात्रा दोनों में किसी भी तरह कम नहीं है। इसलिए आलोचक मुक्तिबोध को हम हिंदी आलोचना का सर्वोत्तम रत्न कहें तो इसमें अतिरंजना नहीं होगी। सच्चाई तो यह है कि *मुक्तिबोध रचनावली* के खंड-4 और 5 तो शुद्धरूप से उनके आलोचनात्मक लेखन को ही समेटे हैं। साहित्य समीक्षा के साथ यदि 'सभ्यता समीक्षा' के खंड 6 को भी शामिल कर लिया जाये जिसमें उनका बेहतरीन राजनीतिक लेखन है तो यह मात्रा और अधिक बढ़ जायेगी।

मुक्तिबोध के आलोचनात्मक लेखन को यदि बारीकी से परखा जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने मार्क्सवाद का अध्ययन बहुत ही गंभीरता से किया था और उसके साहित्यिक अमल में भी भूलगलती की बहुत ही कम संभावनाएं रहने दीं। जो भूलें हैं भी, वे विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन द्वारा अपने युग के आकलन के बारे में की गयी भूलें ही हैं जिन्हें सोवियत संघ के विघटन के बाद ही ठीक से विश्लेषित किया जा सका है। देश और अपने समाज के विश्लेषण में उनकी नजर बहुलांश में तर्कसंगत, वैज्ञानिक और इसीलिए सही है। उन्होंने जो विश्वदृष्टि अर्जित की, उसी के आधार पर वे अपनी पक्षधरता भी तय करते थे, चाहे वह साहित्यिक लेखन हो या अखबारनवीसी। उन्होंने विश्वस्तर पर जो वर्गभेद देखा था, उसमें वे एक ओर समाजवाद और दूसरी ओर साम्राज्यवाद की शक्तियों के बीच टकराव देख रहे थे, इन दो व्यवस्थाओं में से वे समाजवाद (सर्वहारावर्ग की समाजव्यवस्था) के पक्ष में और साम्राज्यवाद (विश्वपूंजीवाद की व्यवस्था) के खिलाफ खड़े थे। वे यह भी देख रहे थे कि साम्राज्यवाद के खिलाफ नवस्वाधीन देश भी हैं जिन पर उन्होंने अपनी पत्रकारिता (देखिए *मुक्तिबोध रचनावली-6*) में बहुत लिखा था और उसमें वे नवस्वाधीन देशों का पक्ष लेते थे। नवस्वाधीन देशों में वे पूंजीवादी-सामंती सामाजिक व्यवस्थाओं के विरोध में और मजदूर, किसान, मध्यवर्ग आदि वर्गों को मुक्ति दिलाने वाली विचारधारा--मार्क्सवाद-लेनिनवाद-- के पक्ष में खड़े थे। भारत में वे इसीलिए कांग्रेस के 'समाजवादी पैटर्न' के नारे के छलावे में नहीं आये और उन्होंने भारत के शोषक-शासक वर्गों का सही चरित्र पहचाना था। वे अपनी वैज्ञानिक विश्वदृष्टि से यह जानते थे कि आज़ादी के बाद भारत की सत्ता का नेतृत्व देशी इज़ारेदारों के हाथ में है जिसने सामंतवाद से गठजोड़ किया हुआ है और विदेशी पूंजी से सहयोग बनाया हुआ है। यह आश्चर्यचकित कर देने वाला तथ्य है कि उन्होंने भारतीय सत्ता का जो वर्गविश्लेषण किया वह उस वक़्त सोवियत संघ और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा किये गये उस विश्लेषण से भिन्न था जिसे डांगे के नेतृत्ववाले कम्युनिस्ट ग्रुप ने अपनाया हुआ था और जो सी पी आइ के पार्टी प्रोग्राम में आज तक अंकित है जबकि वह ग़लत साबित हो चुका है। (सी पी आइ के प्रोग्राम के मुताबिक भारत

की राजसत्ता 'राष्ट्रवादी पूंजीपतिवर्ग' के हाथों में है जो कि सामंतवादविरोधी और साम्राज्यवादविरोधी होता है। इसीलिए उस दौर में सोवियत और चीनी दोनों ही कम्युनिस्ट पार्टियों ने भारत के कम्युनिस्टों को कांग्रेस के साथ सहयोग करने की सलाह दी थी, इस सहयोगवादी लाइन को पार्टी के भीतर उन कम्युनिस्टों ने खारिज कर दिया था जिन्होंने 1964 में 'सी पी आइ-एम' के रूप में नयी पार्टी और नया पार्टी प्रोग्राम बनाया था, जिसके अनुसार भारत की राजसत्ता इज़ारेदार पूंजीपतियों और बड़े भूस्वामियों के गठबंधन के हाथ में है और जो सामराजी पूंजी से सहयोग करता है।)

मुक्तिबोध ने विदेशी पूंजी के आंकड़े पेश करते हुए 3 अक्टूबर 1954 को एक लेख लिखा (*रचनावली-6*, पृ. 61-67) जिसमें उन्होंने लिखा था कि 'बिड़ला और टाटा विदेशी पूंजी के आमंत्रण को भारत के लिए (यानी स्वयं उनके लिए) हितकर समझते हैं। बिड़ला महोदय स्वयं अनेक ब्रिटिश उद्योगपतियों से पूंजीबद्ध हैं, तो टाटा अमरीकी पूंजीपतियों से।' (वही, पृ. 66) इसी तरह उन्होंने कांग्रेस द्वारा दिये गये समाजवादी पैटर्न के नारे का भी सही वर्गविश्लेषण किया और कहा कि 'अगर देश में पूंजीवादी समाज-रचना के स्थान पर समाजवादी ढंग की समाज-रचना लाने की ओर प्रयत्न किया जा रहा है, तो (यह महत्वपूर्ण बात है) देश के गरीब वर्ग अधिकाधिक गरीब और श्रीमान वर्ग अधिकाधिक श्रीमान क्यों होते जा रहे हैं। गरीब वर्गों और धनी वर्गों के बीच की खाई अब पहले से ज़्यादा बढ़ गयी है।' (वही, पृ. 67) इसी तरह उन्होंने बड़े भूस्वामियों के वर्चस्व की भी बात कही और उदाहरण देते हुए लिखा कि 'भूदान आंदोलन के बावजूद, मध्यप्रदेश में तीन सौ तैंतीस ऐसे काश्तकार हैं जिनमें से हर एक के पास एक हजार एकड़ से अधिक ज़मीन है, उन्हें अपनी ज़मीन से वंचित किया जा सकता था, और उनकी ज़मीन सरकारी तौर पर किसान जनता को दी जा सकती थी, जैसा कि चीन में हुआ।' (वही पृ. 68)

इस तरह मुक्तिबोध आज़ादी के बाद के भारत की राजसत्ता का वर्गविश्लेषण करते हुए अपनी पैनी मार्क्सवादी दृष्टि का परिचय देते हैं, वे किसी आचार्य की तरह सिर्फ सिद्धांत नहीं बघारते, उससे अपने समय और समाज के यथार्थ को परखते चलते हैं, और ज़्यादातर सही तर्कसंगत निष्कर्षों पर पहुंचते हैं। उदाहरण के लिए, 'पब्लिक सेक्टर' के बारे में उनकी अंतर्दृष्टि देखने लायक है। हमारे यहां आज भी बहुत सारे बुद्धिजीवी यह समझते हैं कि सरकारी क्षेत्र हमारे 'समाजवाद' प्रेमी नेहरू जी की देन है। मुक्तिबोध बताते हैं कि यह क्षेत्र भी टाटा-बिड़ला की ज़रूरत को पूरा करने के लिए ही बनाया गया था, 'भारत को आज़ाद हुए आठ साल हो रहे हैं, अभी देश के औद्योगीकरण के लिए आवश्यक धन अरबों रुपयों का चाहिए। हमारे यहां का औद्योगिकवर्ग इतना श्रीमान नहीं है कि वह अपने पैसों से औद्योगीकरण

कर सके। यह बात स्वयं बिड़ला ने स्वीकार की है। अपने एक भाषण में उसने यह कहा कि भारत में सरकार ही औद्योगीकरण कर सकती है। क्योंकि वह पैसा इकट्ठा कर सकती है, जनता पर उसका वजन है, वह जनता से पैसा ले सकती है। एकत्र किये गये इस धन से औद्योगीकरण हो सकता है।' (वही, पृ. 69) देशी-विदेशी पूंजीपतियों का हितसाधन करने वाली भारतीय राजसत्ता का इस तरह का यथार्थपरक विश्लेषण करने के बाद उन्होंने साफ़ लिखा कि 'समाजवादी ढंग की समाज-रचना करने का तरीका यह नहीं है कि भारत में अमरीकी पूंजी को पच्चीस वर्ष की गैरण्टी दी जाये और ब्रिटिश पूंजी के बारे में चूं तक न किया जाये। इससे एक बात तो सिद्ध होती ही है। वह यह कि आगामी पच्चीस-तीस वर्षों तक के लिए समाजवादी ढंग टाल दिया गया है।' (वही, पृ. 70)

मुक्तिबोध ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद की वैज्ञानिक प्रणाली से अपने आसपास का और विश्व का यथार्थ गहराई से परखा था और उस पर लिखा था। मार्क्सवाद के 'आधार और ऊपरी संरचना' के बहुचर्चित सिद्धांत को भी उन्होंने काफ़ी गहरी अंतर्दृष्टि से समझा और उससे साहित्य और कला का विश्लेषण किया था, उसे भारतीय साहित्य और विश्वसाहित्य के उदाहरणों से पुष्ट किया था। उन्होंने अंग्रेज़ी, रूसी, चीनी और फ़्रांस आदि देशों के साहित्य और विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों पर भी मार्क्सवादी दृष्टि से टिप्पणियां कीं जो कि उनकी अपनी मौलिक सूझबूझ को ही दर्शाती हैं। इनमें से बहुत सी टिप्पणियां ऐसी हैं जो बाद में पश्चिम में मार्क्सवादी लेखकों में भी देखने को मिलती हैं। शेक्सपीयर पर उनकी टिप्पणी को मार्क्स की टिप्पणियों से प्रभावित मान भी लें तो टी एस एलियट और एज़रा पाउंड के बारे में उनके तर्कसंगत और सही विश्लेषण को देख कर आश्चर्य होता है क्योंकि ऐसा विश्लेषण तो पश्चिम में भी बाद में हुआ था। जॉन आर. हैरिसन की अंग्रेज़ी पुस्तक, *द रिप्लेक्सरीज़*, जिसमें उक्त अंग्रेज़ी कवियों का ठीक इसी तरह का आकलन किया गया, मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद 1966 में प्रकाशित हुई थी। मुक्तिबोध ने टी एस एलियट और एज़रा पाउंड और हक्सले के बारे में लिखा :

टी एस एलियट, इशरवुड, एल्डूज हक्सले को अपनी जर्जर आत्माओं की समस्याओं का हल गिरजाघर तथा वेदांत में ही दीखा और उन्हीं की मनोवृत्तिवाला कवि एज़रा पाउंड अंत में राजनैतिक क्षेत्र में भी घोर फ़ासिस्ट हो गया।' (*रचनावली-5*, पृ. 52)

मुक्तिबोध की आलोचना पद्धति में सिद्धांत और व्यवहार साथ साथ चलते हैं। हिंदी के बहुत से 'आचार्य' आलोचक चोरी किये गये सिद्धांत बघार कर अपने दायित्व से मुक्त हो जाते हैं, जबकि सिद्धांत तो बहुत सारी किताबों में दिये ही हुए हैं। असली कसौटी तो व्यावहारिक समीक्षा ही होती है जिससे बहुत से आचार्यप्रवर बचते

हैं, ऐसे सिद्धांतबधारू आचार्यों के लेखन को बारीकी से देखा जाये तो कुल ढाक के ढाई पात ही निकलेंगे। जबकि मुक्तिबोध का लेख, 'साहित्य और समाज' (रचनावली-5, पृ. 44-73) उनके सिद्धांत और व्यवहार के सामंजस्य की अदभुत मिसाल है। वे समाज और उसके विभिन्न भौतिक और चेतनापरक घटकों को उनकी गतिशीलता में तथा वर्गीय परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, इसी नज़रिये से वे मानवसंबंधों की भी व्याख्या करते हैं। वे 'आधार और ऊपरी संरचना' के परस्परसंबंध में यांत्रिकता से भी हमें सावधान करते हैं जिस तरह एंगेल्स ने भी किया था। मुक्तिबोध लिखते हैं, 'इसका यह अर्थ नहीं कि मानवसंबंधों के आमूल परिवर्तन के साथ ही चेतना स्वयं भी यांत्रिकतापूर्वक आमूल बदल जाती है। चेतना के विकास के अपने गति-नियम हैं, जो सापेक्ष रूप से स्वतंत्र हैं। किंतु उनकी स्वतंत्रता की सापेक्षता का बिलकुल सीधा निर्णयकारी नियंत्रक संबंध वास्तविक मानवसंबंधों से है। सामाजिक उत्पादन प्रणाली, कार्यविभाजन के अनुसार, विविध वर्ग तथा उनके जीवन-यापन की विशेष प्रणालियां निर्धारित करती है। एक वर्ग के भीतरी सामाजिक संबंध सभी तथा विभिन्न वर्गों के परस्पर सामाजिक संबंध, मानव संबंध हैं।' (वही, पृ. 45)

मुक्तिबोध सामाजिक जीवन में घटित सारे क्रिया व्यापार को वर्गीय नज़रिये से ही देखते थे चाहे वह राजनीति हो या साहित्य लेखन। लेकिन इस तरह के विश्लेषण में वे यांत्रिकता से बचते थे। अपने समय की राजनीति के बारे में भी उनका यह खयाल सही था कि राजसत्ता कुछ वर्गों की होती है, संसद में चाहे कोई भी पार्टी चुन कर आये। उन्होंने लिखा भी था, 'हमारे यहां राजसत्ता का वैज्ञानिक अर्थ नहीं समझा जाता। सामंती समाज में सामंती वर्ग, पूंजीवादी समाज में उच्च-मध्यवर्गीय और धनी लोग राजसत्ता को चलाते हैं। बहुमत से पार्लामेंट में चुन कर चाहे जो आये, राजसत्ता के संचालन और आर्थिक संतुलन का कार्य इसी उच्च-मध्यवर्ग को करना पड़ता है।' (रचनावली-6, पृ. 69) यहां मुक्तिबोध 'उच्च-मध्यवर्ग', दर असल, मार्क्सवादी शब्दावली में प्रयुक्त बहुचर्चित फ्रेंच शब्द, big bourgeoisie के डिक्शनरी हिंदी अनुवाद की वजह से लिख रहे थे, जिसका वास्तविक अर्थ अब 'बड़ा पूंजीपतिवर्ग' होता है, सामंतवादी युग में उसे ज़रूर 'उच्च मध्यवर्ग' कहा जाता था, क्योंकि उस युग में वह शासकवर्ग नहीं था। मगर शब्दकोशों में अभी तक 'बूर्जुआ' के लिए 'मध्यवर्ग' ही दिया जा रहा है। (देखिए, कामिल बुल्के, अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दकोश, 1968, पृ. 75) जिस तरह निराला ने अपनी कविता 'राजे ने अपनी रखवाली की' में शासक और उसके हितसाधन के लिए बनायी गयी ऊपरी संरचना के बीच के रिश्ते को उजागर किया था, उसी तरह मुक्तिबोध ने उस अवधारणा को और अधिक वैज्ञानिक तौर पर अपने आलोचना कर्म में और रचना

में भी प्रस्तुत किया । ‘अंधेरे में’ कविता की ये पंक्तियां हम सभी को इसी मार्क्सवादी अवधारणा की याद दिलाती हैं :

विचित्र प्रोसेशन
 बैंड के लोगों के चेहरे
 मिलते हैं मेरे देखे हुआं से
 लगता है उनमें कई प्रतिष्ठित पत्रकार
 इसी नगर के !!
 बड़े-बड़े नाम अरे, कैसे शामिल हो गये इस बैंड-दल में !!
 उनके पीछे चल रहा
 संगीन नोकों का चमकता जंगल,
 कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल
 कई और सेनापति सेनाध्यक्ष
 चेहरे वे मेरे जाने बूझे से लगते
 उनके चित्र समाचार-पत्रों में छपे थे,
 उनके लेख देखे थे,
 यहां तक कि कविताएं पढ़ी थीं
 भई वाह !
 उनमें कई प्रकांड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण
 मंत्री भी, उद्योगपति और विद्वान
 यहां तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात
 डोमाजी उस्ताद

(मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ. 328-30)

मुक्तिबोध ने पूरे पूंजीवादी सुपरस्ट्रक्चर को इस अंश में चित्रित कर दिया है। पिछले दिनों ‘तहलका.काम’ की साहसी टीम ने भा.ज.पा.-आर.एस.एस के चरित्र को अपनी खोजी-पत्रकारिता और छिपे कैमरे से जिस तरह उजागर किया, उसी तरह मुक्तिबोध ने अपनी मार्क्सवादी अंतर्दृष्टि से भारतीय समाज व्यवस्था के चरित्र को फ्रैंटेसी के माध्यम से सही सही अंकित किया था। इसी तरह भारतीय पूंजीवादी-सामंती शोषण व्यवस्था को उन्होंने अपनी कविता, ‘एक स्वप्नकथा’ में ‘काले सागर’ के बिंब से चित्रित किया है, वहां उसके साम्राज्यवाद के साथ सहयोग को भी कलात्मक तरीके से बिंबित किया:

हो न हो
 इस काले सागर का

सुदूर-स्थित पश्चिम किनारे से
ज़रूर कुछ नाता है

इसीलिए, हमारे पास सुख नहीं आता है । (वही, पृ. 269)

मुक्तिबोध ने अपने आलोचनात्मक लेखन में भी सामाजिक जीवन के विश्लेषण को नहीं छोड़ा। कला को सिर्फ कला तक सीमित करके देखना उन्हें पसंद नहीं था। कला की सामाजिक 'पक्षधरता' का उदघोष उन्होंने किया और इसी नज़रिये से उन्होंने अपने समय के सभी साहित्यिक मसलों पर लिखा। कांग्रेस फ़ार कल्चरल फ़्रीडम के हर नारे का तर्कसंगत जवाब मुक्तिबोध के लेखन में ही मिलता है। एक साहित्यिक की डायरी (रचनावली-4) के लेखों में मुक्तिबोध ने कथात्मक शैली में अपने समय के आधुनिकतावादियों की हर अवधारणा, अकेलापन, भीड़ में अस्मिता का विलय, ऊब, संत्रास आदि या व्यक्ति-स्वातंत्र्य, 'लघु मानव' की अवधारणा का जैसा सटीक जवाब दिया है, वह उस दौर के लेखन में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। आठवें दशक में जब जनवादी समीक्षा का नया उभार आया तभी उन सूत्रों को आगे बढ़ाया जा सका। कला और रचना के महीन रंग रेशों के भीतर पैठ कर मुक्तिबोध ने हिंदी को, बल्कि विश्वसाहित्य को जो मौलिक सूझबूझ दी है वह अदभुत है। डा. नामवरसिंह ने इस ठीक ही इसे एक 'क्रांतिकारी कृति' कहा था। नयी कविता का आत्मसंघर्ष और नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र के निबंधों को (जो कि उनकी रचनावली -5 में संकलित हैं) गहराई से देखें तो यह स्पष्ट होता है कि रचना-प्रक्रिया, वस्तु और रूप, सौंदर्यानुभूति आदि तमाम उन विषयों पर मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी नज़रिये से लिखा जो साहित्य सृजन के दायरे में आते थे। उन्होंने अपने समकालीन आधुनिकतावादियों के साथ लगातार एक बहस की, उन्हीं का एक शब्द उधार लें तो वे सचमुच 'जवाबी ग़दर' थे। मुक्तिबोध ने अपने समकालीन रचनाकारों की कृतियों की व्यावहारिक समीक्षा भी लिखी और कामायनी: एक पुनर्विचार जैसा पूरा आलोचनात्मक ग्रंथ भी लिखा जो इस महाकाव्य का वर्गीय वैचारिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

मुक्तिबोध का एक योगदान और गौरतलब है, वह है प्रगतिवादी समीक्षा की कमज़ोरियों को गहराई में उतरकर पहचानना। प्रगतिवाद की विचारधारात्मक शक्ति का बहुत ही तर्कसंगत आकलन उन्होंने 'प्रगतिवाद: एक दृष्टि' लेख में किया और प्रगतिवादी समीक्षा की कमज़ोरियों को उन्होंने बेलाग तरीके से 'समीक्षा की समस्याएं' निबंध में दर्शाया। मुक्तिबोध द्वारा किये गये विश्लेषण से आज भी जनवादी समीक्षकों को सीखने की ज़रूरत है। मगर दुखद पहलू यह है कि वे कमज़ोरियां आज भी उन आलोचकों में जड़ जमाये बैठी हैं जो अपने को 'मार्क्सवादी' कहते और मानते

हैं । ऐसा लगता है मानों हमारे ऐसे समीक्षकों से वे शायद आज ही यह कह रहे हों:

ध्यान में रखने की बात है कि लेखकों से 'कलह' करके, ऐसे लेखकों से जिन्हें पूरा का पूरा विपक्षी नहीं कहा जा सकता, जो अभी अपनी विकास-यात्रा पर आगे बढ़ रहे हैं, आप अपने उन प्रभावशाली विपक्षियों के हाथ ही मजबूत बना रहे हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य आपकी विचारधारा को और आपको पूर्णतः समाप्त कर देना है -- ऐसे विपक्षियों के, जो आपसे अधिक एकताबद्ध, साधनसंपन्न और क्रियाशील हैं, और जो अपने वास्तविक कार्य-व्यवहार द्वारा विकासमान लेखकवर्ग से घनिष्ठ संपर्क बनाये हुए हैं। ऐसी स्थिति में भी यदि वे पूर्णतः साहित्य क्षेत्र पर अपना प्रभावाधिकार नहीं जमा पा रहे हैं तो इसका एक कारण है, लेखकवर्ग की अपनी उदबुद्धता और चेतना। संक्षेप में आपको स्थिति-परिस्थिति का, सामाजिक-राष्ट्रीय अवस्था का, परिप्रेक्ष्य रखना आवश्यक है। (रचनावली-5, पृ.145-46)

क्या आज के सांप्रदायिक फ़ासीवादी दौर में मुक्तिबोध की इस सलाह पर हमारे समीक्षकों को ग़ौर नहीं करना चाहिए ?

वर्तमान साहित्य : आलोचना विशेषांक 1997 में प्रकाशित

हिंदी समीक्षा में रूपवाद का एक नया शगूफ़ा : शैली विज्ञान

अपने निर्णय के सहीपन तथा वैधता के प्रतिमानों को हम
कहाँ तलाश करें? सिर्फ जहाँ तर्कसंगत निर्णय और
ऐतिहासिक यथार्थ में तालमेल हो ।

---विक्टर रोमेन्को

रूपवाद से हमारा क्या तात्पर्य है? यह बात पहले स्पष्ट की जाये। संपूर्ण सृष्टि में जितनी चीज़ें हैं उनके दो पक्ष हैं : एक वस्तु यानी कन्टेन्ट और दूसरा रूप यानी फ़ार्म। इन वस्तुओं को जानने या उनके सत्य को समझने की भी दो विधियां रही हैं : एक, वस्तुवादी व दूसरी रूपवादी। इसका अर्थ हुआ एक विधि वस्तु को प्रमुख तथा रूप को गौण तथा दूसरी विधि वस्तु को गौण तथा रूप को प्रमुख मानती रही है। जिस विधि में वस्तु, दृश्य, रचना के रूप यानी फ़ार्म पर संपूर्ण बल या प्राथमिक बल दिया जाता है उसे हम रूपवाद कहते हैं। इसी प्रकार की दो ज्ञानधाराएं दर्शन के क्षेत्र में भी हैं, जिन्हें हम भाववाद तथा भौतिकवाद के नाम से जानते हैं। भाववाद की स्थापनाएं ये हैं कि 'जगत नहीं है', भाव 'है', ब्रह्म यानी भाव सत्य है, जगत् मिथ्या है। भौतिकवाद बताता है कि जगत या भौतिक वस्तुएं उस समय में भी थीं जब भाव नहीं था। पदार्थ का अस्तित्व चेतना से पहले था। दर्शन के क्षेत्र में भाववाद और भौतिकवाद का संघर्ष बहुत पुराने समय से चला आ रहा है और वह अभी तक चल रहा है। यह वर्गों की विश्वदृष्टि का संघर्ष रहा है। भाववादी दर्शन में सृष्टि को भाव यानी आइडिया, शब्द या 'लोगोस' या विचार की प्रतिच्छवि बताया गया। पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो ने जगत को भाव का प्रतिबिंब बताया, इसी प्रकार के चिंतन की शुरुआत भारत में भी उपनिषद् काल में हुई। भाववाद का ऐन्टीथीसिस, भौतिकवाद भी उस समय इस संघर्ष में उपस्थित था। इस संघर्ष में मानवचेतना के विकास का रहस्य छिपा है। शनैः शनैः इस संघर्ष से भाववाद का आदिम अज्ञान कम होता गया और वस्तुवाद के रूप में विज्ञान मनुष्य की चेतना का अंग बनता गया। आज की दुनिया में जो वैज्ञानिक भौतिक मानसिक प्रगति दिखायी पड़ रही है वह भाववाद की क्रमिक हार और भौतिकवाद की विजय का बड़ा सबूत है।

साहित्य व कला में आदिम भाववाद से लेकर 'आधुनिक' भाववाद के स्वरूप को ही रूपवाद कहते हैं। रूपवाद मात्र इन्द्रियबोध पर आधारित होने के कारण पशुज्ञान के बहुत करीब है। आदिम मनुष्य ने इस रूपवादी ज्ञानपद्धति को पर्शयुग से हासिल किया था। कुछ 'सभ्य' लोग उस प्रवृत्ति को अभी तक छोड़ने में समर्थ नहीं हो सके हैं। वस्तु और रूप के संबंधों को लेकर विश्व की सभी ज्ञानप्रणालियों में विवाद हुआ है। सौंदर्यशास्त्र में भी दो विरोधी धाराओं का संघर्ष रहता आया है। ज्ञान के वैज्ञानिक साधन -- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद -- ने अब तक की एकांगी दृष्टियों के स्थान पर तर्कसंगत ज्ञानप्रणाली का विकास किया। यह प्रणाली वस्तु और रूप को उनकी द्वंद्वात्मकता में देखने पर बल देती है, अतः वह एकांगी रूपवादी पद्धति से संघर्ष करती है।

वस्तु और रूप की द्वंद्वात्मकता क्या है? संपूर्ण सृष्टि द्वंद्वात्मकता के नियमों से परिचालित, परिवर्तित हो रही है और वे ही नियम वस्तु और रूप में भी काम कर रहे हैं। जैसा कि मौरिस कार्नफोर्थ ने कहा है, 'द्वंद्वात्मकता का नाता अंतःसंबंध, परिवर्तन और विकास से है। भौतिकवादी तरीके से समझने पर द्वंद्वात्मकता प्रकृति, मानवसमाज तथा विचारजगत की गति और विकास के सामान्य नियमों का विज्ञान है।' इसका अर्थ यह हुआ कि 1. वस्तु और रूप के बीच ऐन्टीथीसिस का संघर्ष और संपृक्ति यानी यूनिटी होती है, 2. उनमें निषेध का निषेध होता है, 3. उनमें मात्रात्मक परिवर्तन धीरे धीरे गुणात्मक परिवर्तन कर देता है, 4. उनमें अंतःसंबंध होता है अतः वे परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। विश्लेषण-संश्लेषण द्वारा प्रकृति, जीवन, समाज व साहित्य के वस्तु व रूप पक्ष को इस वैज्ञानिक विश्वदृष्टि से समीक्षित किया जा सकता है।

हर साहित्य की समीक्षा में युगसापेक्ष वस्तुवाद और रूपवाद का ऐन्टीथीसिस का संघर्ष होता आया है। रूपवादी समीक्षादृष्टि, अपने किसी भी वेश में, भाववाद की सीमाओं को अतिक्रमित नहीं कर सकती। भाववादी भाव को जो मूलतः वस्तु पर ही आधारित होता है इतना अधिक महत्व देता है कि उसे मूल से काटकर सर्वस्वतंत्र बना देता है। अपने आदिम विकास से मनुष्य ने अपने ही विकृत प्रतिबिंब या जीवजगत के विकृत प्रतिबिंब के रूप में ईश्वर की कल्पना कर ली। समाज के भाववादी वर्ग ने उस भाव को इतना महत्व दे डाला कि उसे मूल से काट दिया और सर्वशक्तिमान करार देकर करोड़ों सालों से मानवता को भयाक्रांत रखा। वैज्ञानिक ज्ञान के प्रचारप्रसार के साथ नये मानव समाजों ने इस मिथ्याचेतना को समझा और उस भाव का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। साहित्यसमीक्षा में रूपवादी दृष्टि, जो मूलतः भाववादी है, इसलिए साहित्य रूपों को ईश्वर बनाकर पूजने लगती है, वह शब्द को ब्रह्म बना देती है।

रूपवाद की सर्वप्रथम विशेषता रूप को प्राथमिकता व स्वतंत्र सत्ता प्रदान करना है। यह प्राथमिकता अलग अलग वेश में 1. साहित्य रूपों के अध्ययन की प्राथमिकता 2. शब्द या भाषा के अध्ययन की प्राथमिकता 3. संरचना की प्राथमिकता 4. अभिव्यंजना पद्धति की प्राथमिकता के रूप में सामने आती है। रूपवाद वस्तु या कथ्य की उपेक्षा को या तो साफ़ तौर पर दर्शाता है या परोक्ष रूप में उस उपेक्षा को प्रोत्साहित करता है। कथ्य की उपेक्षा का यह साफ़ अर्थ है कि रूपवाद उस समीक्षा को सामाजिक विचारों या यथार्थ को उपेक्षित करने के लिए गोलबंद करता है और इस प्रकार रचना को उद्देश्यहीन या समाजनिरपेक्ष मानने पर बल देता है। कथ्य की बात यदि की भी है तो रूप को उभारने या उसकी प्रशंसा या निंदा के लिए, उसका केंद्र बिंदु रूप ही होता है। रूपवाद की यह विशेषता है कि वह रूप और वस्तु के आपसी आंतरिक व वाह्य अतःसंबन्धों को अनदेखा करने की सलाह देता है।

इन्हीं कारणों से रूपवाद साहित्य व कला की स्वतःपूर्ण स्वायत्त सत्ता की वकालत करता है। स्तर भेद से वह साहित्य कला को स्वातः सुखाय' यानी सिर्फ़ अपने तर्क यानी सामाजिक दृष्टि से निरुद्देश्य मानता है। यदि वह 'पर हिताय' मानता भी है तो व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से क्योंकि वह मानकर चलता है कि जो चीज़ उसे स्वयं मज़ा देगी वह सब के हित में होगी। इसी संदर्भ में समय समय पर रूपवाद कलावादी कविर्मनीषी स्वयंभू को भी सर्वस्वतंत्र, समाज से ऊपर और वर्गों से परे मानने पर बल देता है। आज अपने पतनकाल में रूपवाद ने एक 'नया' नारा दिया है और वह अमेरिका के एक घोर प्रतिक्रियावादी नये समीक्षक की चोंच से निकला है कि 'फ़ार्म इज़ कन्टेन्ट' यानी रूप ही वस्तु है।

यह नारा नया नहीं है, इस तरह के नारे पतनशील व्यवस्थाओं के दासानुदास सदैव देते आये हैं। रूप को ही वस्तु कहने वाले लोगों के वर्ग को थोड़ा व्यावहारिक दृष्टि से देखें। आज लाभलोभवादी देशों में एक ठग व्यापारी जनता को जो माल पेश करता है वह उसको उसके रूप देखने तक ही सीमित रखना चाहता है। मसलन, पिसे हुए धनिये के फ़ार्म में जो घोड़े की लीद बेच रहा है या टेरीलीन के फ़ार्म में नक़ली नायलान का कपड़ा बेचना चाहता है, या नक़ली दवाएं, दूध आदि बेच रहा है, वह क्यों चाहेगा कि लोग इसके कटेंट को भी जाने। अमेरिका यदि विश्वशांति और लोकतंत्र के शब्दों के रूप में शोषण का अबाध उपक्रम चलाता रहना चाहता है तो वह शब्दों के पीछे छिपे उसके असली कटेंट का ज्ञान शोषण के मारे हुए जनसमूह तक क्यों जाने देगा? अतः रूपवादी जीवनदृष्टि और भाववाद विश्वस्तर पर शोषक वर्ग के हितों की रक्षा करते हैं।

शिवकुमार मिश्र ने अन्स्ट फ़िशर के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि

‘शासकशोषक वर्ग जब अपने सिंहासन को खतरे में देखते हैं, तभी वे वस्तु तत्व की उपेक्षा कर रूपतत्व को प्राथमिक बताने लगते हैं, कारण, इसी प्रकार का भ्रम फैलाकर वे अपना सिंहासन सुरक्षित बने रहने का स्वप्न देखते हैं, वह उनका स्वप्न अंततः स्वप्न ही साबित होता है। पूंजीवादी समाज व्यवस्था के समर्थक शोषणमूलक अर्थनीति के सारे दुष्परिणामों से युक्त पूंजीवादी समाज के वस्तुतत्व के प्रति मौन रहते हैं, जबकि उसके रूप तत्व अर्थात् तथाकथित प्रजातंत्रिय पद्धति की रक्षा का नारा लगाते हैं।’ यह आज के वर्ग समाजों की स्थिति है। अतीत में भी शासकशोषक वर्ग शोषित जनता को शब्दों तक ही सीमित रखना चाहते थे। उपनिषद् काल में जनक ने याज्ञवल्कि को भाववादी मिथ्याचेतना फैलाने के लिए पुरस्कृत किया था जैसा कि देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक, *व्हाट इज़ लिविंग एंड व्हाट इज़ डैड इन इंडियन फ़िलासफी*, में भाववाद के सामाजिक आधार को तलाश करते समय बताया है, मध्ययुग में भी कई ब्राह्मण राजाओं ने तथा मुग़ल सामंतों ने भाववादी शब्दवाद के भ्रम को फैलाने तथा राजा को ईश्वर का अवतार सिद्ध करने के लिए बुद्धिजीवियों को खरीदा था। अबुल फज़ल ने अकबर के शब्दों को देववाणी बताया तो हिंदू शोषक वर्ग की विचारधारा के प्रचार के वशीभूत संत महात्मा तक ‘गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न’ का रूपवादी नारा देकर शोषित वर्ग को छलते गये। व्यावहारिक जीवन में ‘विष रस भरा कनक घट जैसे’ दृश्य देख कर रूपवादियों की भी अभेद दृष्टि गायब हो जाती है।

सचाई यह है कि संपत्तिशाली या उत्पादन के साधनों और माल पर प्रभुत्व जमाये रखने वाला वर्ग निर्धन व शोषित वर्ग को उल्लू बनाये रखना चाहता है, अज्ञान, निरक्षरता, संस्कृतिहीनता व भाववाद रूपवाद शोषकवर्ग की रक्षा के साधन बनते हैं। अतः महाजनी सभ्यता हर प्रकार की मिथ्याचेतना को बढ़ावा देती है। भूखे शोषित वर्ग को शोषक वर्ग पशु पक्षियों की चेतना से आगे नहीं जाने देना चाहते। अतः उनका भरसक प्रयत्न रूपवाद को पुनःपुनरपि जीवित करने का रहता है। अपने अधोपतन के बिंदु पर शोषक वर्ग प्रचार करता है कि रूप को ही वस्तु मानो, शब्द को ही सत्य मानो उसके पीछे छिपे वस्तुतत्व का विश्लेषण-संश्लेषण मत करो या फिर भाषिक संरचना, भाषा के खिलवाड़ या भाषा का क्रीड़ाभाव या लीलाभाव, या उसकी शैली ही देखकर मस्त हो जाओ। फिर धीरे धीरे मज़े में गाफ़िल होकर डूब मरो।

साहित्य में रूपवाद की अवैज्ञानिकता का सबसे बड़ा सबूत यह है कि वह साहित्य व कला को सर्वस्वतंत्र और उसकी सत्ता को सर्वस्वायत्त मानता है। तर्कसंगत वैज्ञानिक बात यह है कि इस सृष्टि में कुछ भी स्वायत्त और सर्व स्वतंत्र नहीं है। सब अंतर्ग्रथित हैं। पृथ्वी, सूर्य, चंद्र, मनुष्य, समाज, कविता, कला सभी कहीं न कहीं

एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसीलिए वस्तुएं, दृश्य, विचार आदि संबद्ध रूप में स्वतंत्र हैं, आत्यंतिक रूप में नहीं। मान लो, हमारे किसी पर्वतीय गांव का किसान रात को लालटेन लिये अपने घर के दरवाजे पर खड़ा है। रूपवादी कलाकार के लिए वह सर्वस्वतंत्र सत्ता रखता है। मगर सच यह है कि वह तेल के माध्यम से अपने देश, अरब देश और अमेरिका तक से जुड़ा हुआ है। वह जो तेल या दियासलाई खरीदता है, उस पैसे का बहुत बड़ा हिस्सा आज भी विदेश चला जाता है। अतः वह आर्थिक रूप में देशों व विदेशों के शोषकों द्वारा आज शोषित है। उसके अतःसंबंधों का यह एक बहुत ही साधारण सा पक्ष है, उसके अन्य अनेक आयाम और हो सकते हैं। ऊपर से वह स्वतंत्र दिखता है, असलियत में वह समाज, विश्व सृष्टि आदि से जुड़ा हुआ है। रूपवादी समीक्षकों को काव्य और साहित्य की जो 'स्वतंत्र सत्ता' दिखायी पड़ती है वह भी इसी ढंग की एकांगी समझ का परिणाम होती है। वे कला व साहित्य पर दीन दुनिया का प्रभाव नहीं स्वीकारते क्योंकि उन्हें खुद भी जगत गति नहीं व्यापती।

हिंदी समीक्षा में रूपवाद के बीज उसके जन्मकाल से ही मिलते हैं और उसका ऐन्टीथीसिस वस्तुवाद भी उससे संघर्ष करता हुआ देखा जा सकता है। हिंदी समीक्षा में इन दो परस्परविरोधी धाराओं का संघर्ष 1881 में ही दो साहित्यकारों में मिलता है। रूपवादी, आनंदवादी मजावादी धारा के वाहक थे पं. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और वस्तुवादी धारा के वाहक पं. बालकृष्ण भट्ट। इन दोनों समीक्षकों की समीक्षा में भी ऐन्टीथीसिस के संघर्ष का पैटर्न है, लेकिन यह विभाजन उनकी प्रवृत्तियों की मात्रा को लेकर किया जा सकता है। इसलिए यह विभाजन सापेक्ष है, आत्यंतिक नहीं। दोनों में अपने अंतर्विरोध हैं किंतु अंतर्निहित रुझान समूचे कृतित्व के अंदरूनी व बाहरी अंतःसंबंधों के संश्लेषण से प्राप्त होता है।

हिंदी की रूपवादी समीक्षा की शुरुआत 'प्रेमघन' के सामंती रुझान से हुई। यह शुरुआत उन्होंने अपनी पत्रिका, *आनंद कादम्बिनी* के सन् 1881 के लेख, 'दृश्य, रूपक वा नाटक' से की। इस लेख के पहले ही पैराग्राफ में उन्होंने अतीत के नाटकों की तारीफ करते हुए कहा कि 'वे नाटक बड़े बड़े महाराजाओं और महाजन, साहूकार और विद्वानों के मन बहलाव का, किंतु चित्त के संतोष का कारण थे और सदैव सभ्यों के समाज और नरेशों के दरबार तथा हर्ष के कार्यों में इसी से काम रहता, बड़े बड़े. गुणी चारण, कथक वा वेश्या जिन्हें अपनी चतुराई की चमत्कारी दिखानी होती नाट्य में होते।' उक्त समीक्षा से प्रेमघन के महाजनी सामंती रुझान का जायजा मिलता है। संपूर्ण कृतित्व इस बात का सबूत है कि वे सामंतभक्त व अंग्रेजभक्त ज़्यादा रहे, स्वदेशी के समर्थक थोड़ा कम। प्रेमघन की समीक्षा की रूपवादी मान्यता बीजरूप में इस प्रकार शुरू हुई : 'जानना चाहिए कि नाटक वहां तक नहीं

है कि जहां तक उसमें नक़लपन आवे, किंतु नाटक और अभिनय वह वस्तु है कि जब देखने वाले को इसका परिज्ञान न रह जाय कि हम नाटक देखते हैं वा सत्य लीला जिसके शब्द शब्द से रस चूता और पद पद पर नये आनंद का मज़ा मिलता जाय और देखने वाले उस रस में रंग कर तन्मय दशा को प्राप्त हो जायें।'

हिंदी की रूपवादी समीक्षा ने अपनी दौड़ में अब तक सिर्फ़ तीन 'प्रतिमान' पाये हैं : 'शब्द-शब्द', 'रस', 'आनंद का मज़ा' जिनकी 'त्रिवेणीतरंग' उक्त समीक्षा से शुरू हो चुकी थी। ढाक के ये ही तीन पात बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' में थे और थोड़े बहुत बढ़े हुए रूप में ये ही तीन पात आज के रूपवादी चौधरियों की समीक्षा में हैं। मसलन, सामंती मज़ावादी यानी रसवादी डा. नगेंद्र अपने 'रस-सिद्धांत' की शंकाएं समाधान करते हुए जब यह स्थापना करते हैं कि 'रसानुभूति की स्थिति में आत्मविलयन आवश्यक होता है और आत्मविलयन केवल रसदशा का ही नहीं तादात्म्य एवं आनंद की प्रत्येक दशा का लक्षण है' तो वे 'प्रेमघन' जी को ही सविस्तार दुहरा रहे होते हैं। दूसरी ओर पूंजीवादी-सामंती सौंदर्याभिरुचि के वशीभूत 'नयी समीक्षा' पर फ़िदा डा. नामवरसिंह, जब रस की जगह मज़ावादी 'ध्वनि' या शब्दों की वकालत करते हैं तो वे भी 'प्रेमघन' से बहुत आगे नहीं बढ़ पाते। उनके लिए भी वे कविताएं महत्वपूर्ण हो जाती हैं जिनमें 'भाषा' या 'शब्द' के खिलवाड़ से 'शब्द-शब्द से रस चूता और पद-पद पर नये आनंद का मज़ा' मिलता जाये। अपने एक लेख 'भारतीय नागरी भाषा' में 'प्रेमघन' जी ने, *पृथ्वीराज रासो* के रचयिता को उनकी 'काव्यभाषा' और 'अर्थ की गंभीरता' के अनुसार उसके 'रूप' को बनाने संवारने के कारण 'हमारे सब कवियों का राजा वा गुरु' कहा है। वे उसकी 'रीति' और 'शैली' की भी प्रशंसा करते हैं :

उसकी कविता का रूप और गुण का आख्यान यद्यपि संक्षेप में नहीं हो सकता और यद्यपि उसके प्रबंध के आनंद का अनुभव भी अब हम यथार्थ रीति से नहीं कर सकते, तो भी कह सकते हैं कि वह हमारे सब कवियों का राजा व गुरु है। शब्दों की सजावट और अर्थ की गंभीरता के सहित सुहाती उपमा और उत्प्रेक्षाओं को अपनी कई शैली की भाषा और विविध छंदों में दिखलाता वह सहृदयों के मन को सहज ही लुभाता है।

'प्रेमघन' ने जिस शैली में, *पृथ्वीराज रासो* की रूपवादी समीक्षा की थी, वही समीक्षा शैली कुछ हेरफेर के साथ, *पृथ्वीराज रासो* के आधुनिक संपादक डा. नामवरसिंह में भी मौजूद है। *कविता के नये प्रतिमान* में 'शब्दों की सजावट' और 'अर्थ की गंभीरता' और 'कई शैली की भाषा' के प्रतिमानों के अलावा और क्या नया

है? 'प्रेमघन' का सार सार सब डा. नामवरसिंह ने कह डाला, उनके बाद के रूपवादी शैली वैज्ञानिक या रीति वैज्ञानिक ने 'प्रेमघन' की जूठन को ग्रहण किया जिसका 'आख्यान' वे 'सक्षेप' में नहीं कर पाये, वह तत्व था 'कविता का रूप और गुण' यानी 'शैली और रीति'।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि रूपवाद से संघर्ष करने वाला उसका ऐन्टीथीसिस वस्तुवाद भी हिंदी समीक्षा में उसी युग में मौजूद था जिसके प्रतिनिधि पं. बालकृष्ण भट्ट थे। उनकी जनवादी वस्तुवादी विचारधारा का निर्माण उस समय का उदीयमान पूंजीपतिवर्ग व मध्यवर्ग कर रहा था जो न केवल ब्रिटिश साम्राज्य का विरोधी बल्कि सामंतवादविरोधी भी था। *हिंदी प्रदीप* के जुलाई, 1881 के अंक में उन्होंने एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक था, 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है'। इस लेख में उन्होंने अपनी जनवादी समीक्षा-दृष्टि इस प्रकार प्रस्तुत की थी :

साहित्य जिस देश के जो मनुष्य हैं उस जाति की मानव-सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है वह सब उनके भाव उस समय की साहित्य की आलोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।

पं. बालकृष्ण भट्ट का जीवन और लेखन इस बात का सबूत है कि वे सापेक्षतया वैज्ञानिक, प्रगतिशील और क्रांतिकारी थे। अपने राजनीतिक विचारों में भी वे ब्रिटिश राज व सामंतों के खिलाफ़ थे। 'प्रेमघन' तो राजा शिवप्रसाद पर फ़िदा थे और ब्रिटिश राज का भी गुणानुवाद करते थे (देखिए *प्रेमघन सर्वस्व*, द्वि.भाग, पृ. 11) जुलाई 1881 के *हिंदी प्रदीप* में बालकृष्ण भट्ट ने राजा शिवप्रसाद की अच्छी धुनाई की थी और 'खुशी की परिभाषा' को लेकर कहा था :

सच्ची खुशी स्वदेशानुराग की है जिसने मुल्क या मुल्क की बहवूदी के लिए कभी एक क़तरा खून भी बहाया या अपने निज के फ़ाइदे से बरतरफ़ हो सर्वसाधारण के हित या बेहतरी के लिए यावज्जीवन यत्न करता रहा बल्कि इसी धुन में जान माल सब से हाथ धो बैठा। उसी को सच्ची खुशी हासिल है न कि राजा साहब सा खुशामदी जो अपने स्वार्थ के लिए बस चले तो देश भर को उलट दें।

उन्होंने एक स्थान पर इसी सन्दर्भ में यह भी लिखा कि 'राजभक्ति और प्रजाहित दोनों का साथ कैसे निभ सकता है जबकि 'प्रेमधन' इस समन्वय में पारंगत थे।'

हिन्दू समीक्षा के ये छोटे छोटे बीजबिन्दु थे जिनमें 'एन्टीथीसिस का संघर्ष था। इनसे आगे भी दो संघर्षशील धाराओं में संघर्ष चलता रहा और दो जीवन् पृथियों के संघर्ष के रूप में वह अभी भी चल रहा है। समूची हिन्दू समीक्षा के इतिहास को द्वन्द्वात्मक रीति से विवेचित करें तो पाएंगे कि अब तक की हिन्दू समीक्षा के भीतर भी एन्टीथीसिस का संघर्ष रहा है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि बदरीनारायण चौधरी की सामन्ती मजावादह रूपवादी परम्परा को आगे ले जाने का काम महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास व डा। नगेन्द्र ने किया। बाल षण भट्ट की प्रगतिशील परंपरा बालमुकुन्द गुप्त, रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सिंचित व पल्लवित की। जब पूंजीवाद ने संघर्ष के स्थान पर सामन्तवाद से समझौता कर लिया तो उसकी प्रगतिशीलता का क्षरण होने लगा। इसी स्तर पर पूंजीपतिवर्ग का एन्टीथीसिस सर्वहारा वर्ग भी अपनी विचारधारा लेकर प्रस्तुत हुआ। संघर्ष के आधार बदल गए। पूंजीवादसामन्तवाद के सौन्दर्यशास्त्र से नन्ददुलारे वाजपेयी परिचालित हुए। प्रगतिवादी युग में विचार स्तर पर नई प्रगतिशील परम्परा का उदय हुआ जिसका संघर्ष पूंजीवाद :साम्राज्यवादह से होने लगा। आलोचना के क्षेत्र में इसका प्रतिफलन डा। रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ने किया। बाद में इस आलोचनादृष्टि को पूंजीवादहसामन्ती अभिरुचि वाले रूपवादी रचनाकारों जैसे कि अज्ञेय, भारती आदि ने नई चालों से ध्वस्त करने की कोशिश की। उनसे संघर्ष करते हुए मुक्तिबोध ने प्रगतिवादी समीक्षा को आगे ले जाने में बहुत बड़ा योगदान दिया। पूंजीवादहसामन्ती रूपवाद के वकील के रूप में डा। नामवरसिंह, डा। रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, विद्यानिवास मिश्र व रमेशचन्द्र शाह अपनेअपने भानुमती के पिटारे लेकर आए और शोषित मानवता से प्रतिबद्ध विश्व पृष्ठि वाली समीक्षापद्धति के विकास में डा। रागेय राघव, अमृतराय, डा। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय डा। रमेशकुन्तल मेघ तथा डा। शिवकुमार मिश्र आदि ने योगदान दिया। सत्तरोत्तरोत्तरी वर्षों में एक पूरी नई पीढ़ी 'प्रतिबद्धसमीक्षा' को विकसित करने के लिए सामने आयी है और समसामयिक रूपवादी समीक्षा से वह एन्टीथीसिस का संघर्ष कर रही है। आइए समसामयिक बूर्जुआ रूपवाद के विश्लेषणसंश्लेषण द्वारा उसकी मिथ्यावितना व पतनशील अंतर्वस्तु पर विचार करें।

हिंदी समीक्षा में वर्तमान रूपवाद नंददुलारे वाजपेयी से मुखर हुआ। उन्होंने

स्पष्ट तौर पर रूपवाद की आधारभूत मान्यता को अपनी 'विज्ञप्ति में कहा था कि: काव्य का महत्व तो काव्य के अंतर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुएं काव्य निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता है, उसकी स्वतंत्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतंत्र साधन हैं।

सभी रूपवादियों की मान्यता यही रही है कि शब्द ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म को ही 'परम सुतंत्र न सिर पे कोई' माना जाता है। ब्रह्म एक भाव है, इस प्रकार 'काव्य और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता' का सिद्धांत अपने परिमार्जित रूप में भी भाववाद का अतिक्रमण नहीं कर सकता। जिस प्रकार गधे को किसी भी साबुन से नहला कर बछड़ा नहीं बनाया जा सकता उसी प्रकार इस सिद्धांत की नींव पर खड़ी कोई भी समीक्षा पद्धति वैज्ञानिक नहीं हो सकती, वह अंतिम परिणति में भाववादी ही निकलेगी, उस पर 'नये' का या विज्ञान का मुलम्मा चढ़ाने से उसकी अंतर्वस्तु नहीं बदल जाती। रामचंद्र शुक्ल 'जिस कला कला के लिए' सिद्धांत के विरोधी थे, उस सिद्धांत के पक्षधर क्रोचे आदि नंददुलारे वाजपेयी के आदर्श थे। संघर्षशील प्रगतिशील वर्गों की विचारधारा इस सिद्धांत के खिलाफ थी और उससे लड़ाई कर रही थी।

नंददुलारे वाजपेयी की रूपवादी मान्यता को 'अज्ञेय-भारती और लक्ष्मीकांतों ने आगे बढ़ाया और उनके चौधरी रचनाकार अज्ञेय ने 'प्रेमघन' की ही तरह कविता को 'व्यक्ति की आनंद-साधना' बताया तथा घोषित किया कि 'काव्य' 'सबसे पहले शब्द है' और उनके अनुचर भी 'काव्य और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता' में विश्वास करते रहे, बल्कि वे नंददुलारे वाजपेयी से एक कदम 'आगे' निकलकर या यों कहें कि आदिम समझ को पुनर्जीवित करके, रचनाकार को भी सर्वस्वतंत्र सिद्ध करने लगे। उन्होंने अस्तित्ववाद के शब्दों की खाल ओढ़कर बोलना शुरू किया :

मेरी वेदना ही मेरी स्वतंत्रता का प्रमाण है...मेरी विकल्प और वरण की स्वतंत्रता का और क्या प्रमाण है सिवा मेरी वेदना के...सिवा उस कष्ट के जो मुझे अपने अधिकार का उपयोग करने में होता है?

आज के युग में अधिकारयुक्त शोषक वर्ग का दास रचनाकार अपने को

सर्वस्वतंत्र और 'अद्वितीय' समझता आया है, वह मिथ्या चेतनावश अपने को स्वतंत्र समझता है। जिस प्रकार किसी राजा का कुत्ता छुट्टा घूमता हुआ यही चेतना रखता है। जिन लोगों के पास 'अपने अधिकार का उपयोग' करने की सुविधा नहीं है वे स्वतंत्र कैसे महसूस कर सकते हैं या साहित्य और कला को सर्वस्वतंत्र कैसे मान सकते हैं? शौषितवर्ग को हर युग में इन ढकोसलों का पता चलता रहा, अतः वह मात्र 'कथनी' को स्वतंत्र मानने से इन्कार करता रहा, वैज्ञानिक ज्ञान की तलाश में सत्त्यों का उद्घाटन इसी वर्ग ने किया। कबीर ने सही कहा था कि 'कथनी कथी तो क्या भया जे करणी ना ठहराय'।

लोक में हम सर्वस्वतंत्र उसे मानते हैं जो मर जाता है। कहते हैं कि बंधनमुक्त हो गया यानी जीवन से कट गया, मृत्यु के 'महामौन' में डूब गया। मरणशील शोषक वर्गों की विचारधारा के प्रतिनिधि विश्व स्तर पर इसीलिए 'मृत्यु' का स्वप्न देख रहे हैं। एलियट भी अपनी कविता, 'वेस्टलैंड' में 'डूबकर मरने की मृत्यु' का उद्घोष करता है और उसके आधुनिक अनुचर भी। ये सभी व्यापक जनजीवन से कटे हुए लोग थे, अतः रूपवाद को प्रचारित-प्रसारित कर रहे थे।

अज्ञेय एंड कं. से मुक्तिबोध ने रचनात्मक और समीक्षात्मक स्तर पर संघर्ष किया और 'अद्वितीय' लोगों की आदिम अवरोधक समझ को ध्वस्त किया। साठोत्तरी वर्षों में जब पूंजीवादी-सामंती चेतना अपने हासबिंदु पर पहुंची तो उसे विनाश से बचाने के लिए अमेरिकी 'नयी' सहायता की ज़रूरत पड़ी। इस सहायता को भारतीय बुद्धिजीवियों तक पहुंचाने का सफल उद्यम डा. नामवरसिंह ने किया। जहां अज्ञेय शीतयुद्ध की राजनीति में जानबूझ कर जनविरोधी भूमिका अदा कर रहे थे वहां, डा. नामवरसिंह मिथ्या चेतनावश उस राजनीति के शिकार हुए। उन्होंने 'नयी समीक्षा' की रूपवादी धारा को इस प्रकार पेश किया कि एक ओर वे डा. रामविलास शर्मा की मार्क्सवादी समीक्षा को ध्वस्त कर सकें तथा दूसरी ओर शुद्ध सामंती समीक्षक डा. नगेंद्र को। इसके लिए उन्होंने आड़ ली मुक्तिबोध और रसविरोध की। उनको अपने अंतर्निहित रुझान में बसे हासशील संस्कृति के प्रतिनिधि अकवियों की स्थापना के लिए रूपवाद का सहारा लेना अति आवश्यक हो गया।

डा. नामवरसिंह को जब रूपवादी कहा जाता है तो कई लोगों द्वारा प्रायः शंका उठायी जाती है। इस शंका का मूल कारण एक भ्रम है कि उन्होंने डा. नगेंद्र का और रस का विरोध किया तथा अज्ञेय-भारती आदि का भी। अतः उनकी प्रगतिशील भूमिका है। यहां हमें यह नहीं भूलना होगा कि हास में भी निषेध का निषेध होता है। दूसरे, भाववाद का स्वरूप बदल जाने से वह वस्तुवाद नहीं हो जायेगा। अगर इंग्लैंड में पूंजीपतिवर्ग की एक पार्टी उसी वर्ग की दूसरी पार्टी द्वारा सत्ता ग्रहण कर ले तो क्या दूसरी पार्टी भाववादी रूपवादी विचारधारा को प्रश्रय नहीं

देगी? हिंदी में रचना के स्तर पर 'नये' कवियों से जब 'अकवियों' ने सत्ता हथिया ली थी तो क्या उनमें रूपवाद और भाववाद नहीं था? क्या उनका वर्ग आधार बदल गया था? वे कलासंस्कृति के हास की एक और निचली सीढ़ी साबित हुए थे, अतः उनमें रूपवाद और अधिक प्रबल था जो अज्ञेय के शब्दवाद से भी घटकर आदिम युग की हकलाहट, 'मु मु द्रा द्रा...' के ध्वनिवाद तक पहुंच गया था। 'नयी समीक्षा' में इस अनहद नाद को काव्य गुण स्थापित करना यथार्थतः रूपवाद की क्रमशः गिरावट की उसी सीढ़ी का ही अंग था, अकविता की ही तरह। इसे 'असमीक्षा' भी नाम दिया जा सकता था, मगर डा. नामवरसिंह को उस समय 'न्यू क्विटिसिज़्म' के शब्दों के अनुवाद के अतिरिक्त मौलिक खोज के लिए 'अंधेरे में' और कुछ नहीं दिख रहा था।

अज्ञेय के शब्दवाद को डा. नामवरसिंह ने 'काव्य भाषा के प्रतिमानों की 'नयी' खोज के रूप में प्रस्तुत किया। चूंकि शुद्ध सामंती रसवाद के प्रति एक झुंझलाहट व निषेध की चेतना थी, अतः उसकी जगह सामंती ध्वनिवाद तथा बूर्जुआ शब्दवाद का मिश्रण या 'सामंजस्य' हिंदी समीक्षा को प्रदान किया गया। तत्कालीन सामाजिक आधार के अनुसार होने के कारण वह सिद्धांत में तो प्रतिष्ठित हुआ किंतु व्यवहार में वह व्यापक न बन सका। बस हास के सांस्कृतिक शून्य को भरने भर की ही बात हुई। डा. नामवरसिंह ने 'नयी समीक्षा' को गले लगाते हुए लिखा :

इंग्लैंड और अमेरिका में...आधुनिक मानव को काव्य द्वारा मनोबल प्रदान करना और टूटती हुई काव्य परंपरा की रक्षा — ये दो मुख्य ध्येय 'नव्य आलोचना' के भी रहे हैं, जिससे बहुत से लोग वहां भी सहमत नहीं हैं, किंतु इस प्रक्रिया ने काव्य के वस्तुगत विश्लेषण की एक व्यवस्थित प्रणाली विकसित की जिससे काव्य चिंतन को गति मिली।

अपनी पुस्तक, *कविता के नये प्रतिमान* के संशोधित संस्करण में भी उन्होंने 'नयी समीक्षा' की वकालत की है। वे जहां थे वहीं हैं और उल्टे मार्क्सवादी समीक्षा को उपकृत कर रहे हैं, 'नयी समीक्षा' की केंद्रीय मान्यता का अनुवाद करते हुए उन्होंने लिखा था :

आलोचना की वस्तुनिष्ठता इस बात में है कि वह किसी कृति के मूल्यांकन की प्रक्रिया में उसके रूप की जो पुनः सृष्टि अपने लिए करता है वह यथासंभव अधिक से अधिक मूल कृति के निकट हो। इस प्रयास में एकमात्र अवलंब उस कविता की भाषा है। उस कविता से संबंधित चाहे जितनी बाकी सूचनाएं उसे उपलब्ध

हों, किंतु 'खेल के नियम' के मुताबिक आलोचक उन सूचनाओं से सर्वथा अनभिज्ञ है।

डा. नामवरसिंह ने अपनी पुस्तक में सर्वाधिक बल भाषा और शैली पर दिया है तथा अमेरिकी नयी समीक्षा के प्रतिमान --- 'भाषागत विसंगति', 'विडंबना', 'तनाव', 'नाटकीयता', 'क्रीड़ाभाव' या 'लीलाभाव' --- को समीक्षा के मानदंडों के रूप में घोषित किया है। वे बाहरी सूचनाओं को समीक्षा के लिए निषिद्ध मानते हैं। उन्होंने 'पोयम आन द पेज' या 'कविता की स्वायत्त सत्ता' की बात भी की है, मगर थोड़े से बदले हुए रूप में एक हेत्वाभास भी निर्मित किया है। वे कहते हैं :

वस्तुतः वस्तुनिष्ठ है तो काव्यकृति, जिसे अंग्रेज़ी आलोचक पृष्ठ पर अंकित कविता अर्थात् 'पोयम आन द पेज' कहते हैं। उसकी सत्ता वस्तुनिष्ठ इसलिए है कि रचनाकर्म सम्पन्न होने के बाद कवि-सहृदय-निरपेक्ष रूप में अस्तित्व ग्रहण करती है, किंतु यह अनुभव सिद्ध है कि अपनी वस्तुनिष्ठ सत्ता के वावजूद प्रत्येक कविता ग्रहण की प्रक्रिया में कुछ-न-कुछ सहृदय-सापेक्ष हो जाती है। अनन्य परतंत्रता के आदर्श के बावजूद यथार्थ में उसकी स्थिति सापेक्ष-स्वतंत्र होती है।

क्या यह सही है कि कभी भी रचना 'कवि-सहृदय-निरपेक्ष रूप में अस्तित्व ग्रहण' कर पाती है? वह रचनाकार के संवेदनात्मक उद्देश्य और अंतर्निहित रुझान से क्या पूर्ण मुक्त हो जाती है? सामाजिक परिवेश से और दीन दुनिया या भौतिक जगत के द्वारा बनाये गये रिफ्लेक्स तथा व्यापक विचार प्रक्रिया से वह क्या सर्वस्वतंत्र हो जाती है? नामवर जी उसे सहृदय पाठक से 'ग्रहण की प्रक्रिया' में ही सम्बद्ध मानते हैं, रचना-प्रक्रिया में उसे सर्वस्वतंत्र मानते हैं। पश्चिम के कई रूपवादी, यहां तक कि कुछ अधुनातन शैली वैज्ञानिक भी इसी प्रकार की दोगली बात करते हैं। चूंकि वे रूपवाद की ही एक दूसरी शाखा को अधिक मज़बूत करना चाहते हैं, किंतु वह शाखा खुद साहित्येतर है, इसलिए सम्बद्ध करने के लिए उसकी स्वायत्तता को थोड़ा सा कम कर देते हैं। आखिर भाषा का प्रतिमान बे-अर्थ हो जायेगा! अगर शैलीवैज्ञानिक उस कृति को पाठक या आलोचक यानी खुद अपने से भी असम्बद्ध मान ले तो उस आलोचक को कौन पूछेगा जो आखिर 'उसके रूप की... पुनः सृष्टि अपने लिए करता है'!

डा. नामवरसिंह के रूपवाद का यह सब से बड़ा सबूत है कि उन्होंने भाषागत वैशिष्ट्य यानी कविता में विसंगति, तनाव, क्रीड़ाभाव-लीलाभाव तथा नाटकीय विडंबना आदि के आधार पर ह्रासशील संस्कृति के प्रतिनिधि कवियों की कविताओं को उच्च आसन प्रदान किया। सारे धान बाईस पसेरी तौल दिये! धर्मवीर

भारती, मुक्तिबोध और साठोत्तरी अकवियों की कविताएं एक ही कोटि की सिद्ध कर दीं। उन्होंने ऐलानिया कहा कि वे सभी कविताएं रूपगत विशेषताओं के कारण महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारी हैं। यहां एक प्रश्न उठता है कि भाषागत 'क्रीड़ाभाव' या 'लीलाभाव' से वाकई रचनाएं 'महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारी हो जाती हैं? क्रीड़ाभाव या लीलाभाव उस मुलम्मे की चमक के रूप में नकली और छलपूर्ण रचनाओं में भी हो सकता है और वास्तविक चमक के रूप में जनवादी कविताओं में भी। मगर जब सतह के रूप की ही अपने तई पुनर्रचना करनी हो तो सभी कुछ एक जैसा नज़र आयेगा। मोर के पंख खोंसकर कौवा भी उन्हें मोर का भ्रम देता है। 'दगा की सभ्यता' इसी तरह दगा करती है! कभी वह उपमा, कभी वक्रोक्ति, कभी स्थायी भाव की लाठी से सारी कविताओं की हांकती है तो कभी नये अलंकारों जैसे, 'विसंगति', 'विडंबना', 'तनाव' और 'क्रीड़ाभाव' या 'लीलाभाव' से। इस अभेद दृष्टि को क्या कहें जो यथार्थ के प्रति आंखें बंद करके ध्वनि या शब्द के वैचित्र्य से कविता की समीक्षा पर बल देती है, आलोचना को उसके कटेंट तथा अंतःसंबंधों से काटकर उसके 'क्रीड़ाभाव' या 'लीलाभाव' पर मुग्ध होती है, उसी का मज़ा लेती है। इन भावों से मुक्ति रूपवाद को कभी नहीं मिलती।

जिस प्रकार विकास में निषेध का निषेध काम करता है उसी प्रकार ह्रास में भी। पश्चिम में एक रूपवादी आंदोलन को दूसरा रूपवादी आंदोलन खा जाता है, दूसरी ओर प्रतिबद्ध समीक्षा उनसे संघर्ष करके नये विकास की ओर बढ़ती जाती है। हमारे यहां भी डा. नगेंद्र के देशी रूपवाद यानी रस के स्थायी भाववाद को डा. नामवरसिंह का अमेरिकी रूपवाद यानी क्रीड़ा भाववाद खा गया। यह रूपवाद के ह्रास की द्वंद्वात्मकता है। दूसरी ओर मुक्तिबोध ने रूपवाद को ध्वस्त करके प्रतिबद्ध समीक्षा का विकास किया। डा. नामवरसिंह के 'नये' रूपवाद का भी निषेध एक और रूपवाद से ह्रासोन्मुखी शक्तियां कर रही हैं और उसकी जगह पर और भी फूहड़ किस्म के रूपवाद की स्थापना कर रही हैं। दूसरी ओर प्रतिबद्ध समीक्षा उसका निषेध करके और नये विकास की ओर जा रही है। रूपवाद की क्रमिक मृत्यु और उसका संकुचन होता जा रहा है और प्रतिबद्ध समीक्षा का फैलाव और विस्तार। रूपवाद हर देश में दिनोंदिन इस तरह क्षीण हो रहा है कि अर्थ से कटकर वह भाषा की संरचना में सिमट गया, फिर भाषिक संरचना से शैली में, शैली से वाक्य में, वाक्य से पद में, पद से शब्द में, शब्द से अक्षर ध्वनि और इस तरह भाषा के अंग प्रत्यंगों यानी रूप की शाखाओं पर बंदर बैठक करता हुआ सिमट कर व्याकरण और अब शैली या रीति की अमूर्त यानी नयी भाववादी धारणाओं की गुफाओं में घुसता जा रहा है। इसके विपरीत प्रतिबद्ध समीक्षा कृति को अधिक से अधिक अंतःसंबंधों यानी कृति के भीतर व बाहरी सामाजिक ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्रीय पक्षों को तर्कसंगत

विधि से विश्लेषित- संश्लेषित करने की ओर विकसित हो रही है और उसके केंद्र में मनुष्य और उसका समाज है। वह कृति के विश्लेषण-संश्लेषण में मात्र माध्यमों तक अपने को सीमित नहीं रखना चाहती, वह कृति से बाहर की सूचनाओं की ओर से भी आंख मूंद कर अज्ञान की सिद्धावस्था के पक्ष में नहीं है। इसीलिए जहां प्रारंभिक प्रगतिवाद के दौर के प्रतिबद्ध समीक्षक रचना को समाज का दर्पण कह कर तसल्ली कर लेते थे, अब प्रतिबद्ध समीक्षक रचना को उसकी पूरी द्वंद्वात्मकता में, उसके अन्य अंतःसंबंधों के साथ समीक्षित करने की दिशा में बढ़ रहे हैं। स्वयं मुक्तिबोध ने प्रतिबद्ध समीक्षक को 'मनोविश्लेषणात्मक सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन द्वारा समाजशास्त्रीय विश्लेषण' पद्धति अपनाने की सलाह दी थी। वह हिंदी की प्रतिबद्ध समीक्षा के विकास का एक कदम था। इसी तरह आज की प्रतिबद्ध पीढ़ी भी उसे और अधिक विकसित करने की दिशा में संघर्षरत है। विश्व के अन्य देशों में भी यही प्रक्रिया काम कर रही है।

हिंदी की समीक्षा में संकुचित होती दिवालिया रूपवादी प्रवृत्ति के 'नये' कठमुल्ला इधर 'शैली विज्ञान' का नया चोला ले कर आये हैं। डा. नामवरसिंह फिर भी व्यापक भाषा के प्रतिमान और उसके 'लीलाभाव' तक ही सीमित थे, इन्होंने उसे भाषाविज्ञान की सीमाओं में संकुचित कर दिया। 'शैली विज्ञान' रूपवाद का ही एक नया संस्करण है। इस बात को पश्चिम के शैली विज्ञान के पुरोधे तो स्पष्ट तौर पर स्वीकार करते हैं। अभी पिछले दिनों रोजर फ़ाउलर ने जो 'नया शैली विज्ञान' पेश किया है, जिसकी ख़बर डा.नगेंद्र को नहीं मालूम हुई, नहीं तो वे इसी शीर्षक से अपनी किताब छपता लेते। फ़ाउलर स्पष्ट घोषणा की है :

One aspect of the new stylistics which deserves special
comment is its vital relationship with the contemporary
structuralism/ formalism of the French novel poetique

रोजर फ़ाउलर ने यह बात पहले भी अपनी कृतियों में कही थी। हिंदी में शैलीविज्ञान को डा.रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने जब उतारा तो उन्होंने भी स्वीकारा :

यद्यपि 'शैली विज्ञान' और 'नयी समीक्षा' के सिद्धांत और प्रणाली
एक नहीं परंतु साहित्यशास्त्र के इस वस्तुनिष्ठ एवं रूपवादी चिंतन
और भाषावादी दृष्टि को दोनों ही समान रूप से अपनाते हैं।

रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि 'नयी समीक्षा' और 'शैली विज्ञान' दोनों ही रूपवाद को अपनाते हैं। इस रूप में दोनों ही भाववाद की सीमाओं का अतिक्रमण करने में असमर्थ हैं। इस भाववाद की झलक पाश्चात्य शैलीविज्ञान में भी मिलती है और उसकी अनुकृति, हिंदी शैलीविज्ञान में भी। पाश्चात्य शैलीविज्ञान में रोमन याकोब्सन से लेकर चैटमन और रोजर फ़ाउलर तक इस भाववाद

के शिकार हैं। वे भाषा से भी हटकर, समीक्षा को व्याकरण और ध्वनि या छंद की सीमाओं में बांध देना चाहते हैं। उसे अन्य रूपवादी सिद्धांतकारों की ही तरह, आंतरिक अंतःसंबंधों से काट देना चाहते हैं। विश्लेषण के नाम पर शब्दों के व्याकरणिय चरित्र या शब्दों में बलाबल तक ही शैली वैज्ञानिक समीक्षा सीमित है। इस बेहूदी समीक्षा का मज़ाक उड़ाते हुए डब्ल्यू एफ़. बेटसन ने एक ज़माने में फ़ाउलर साहब की अच्छी धुनाई की थी।

शैलीविज्ञान पर आधारित साहित्य-समीक्षा ने व्यावहारिक स्तर पर न पश्चिमी साहित्य का कोई हित किया है और न हिंदी में। कबीर या तुलसी में यदि शैली वैज्ञानिक महोदय संज्ञा, सर्वनाम और क्रियापद ढूंढ लेंगे तो इससे कौन सा तीर मार लेंगे? किसी उपन्यास में लिंग-प्रयोग ढूंढने या किसी कविता में बलाबल पर तिरछी लाइनें लगा देने से समीक्षा के भंडार में क्या श्रीवृद्धि होगी? सांस्कृतिक ह्रास और बौद्धिक दिवालियापन का जीता जागता उदाहरण देखना हो तो विश्व के पूंजीवादी देशों के भीतर इन रूपवादी समीक्षा पद्धतियों में संकुचन-प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। लिंकन बार्नेट का यह कथन ग़लत नहीं है कि 'भाषावैज्ञानिक समीक्षा का 'बौद्धिक अबुद्धिवाद' भावी पीढ़ियों को अक्षम बना रहा है।'

पाश्चात्य शैलीविज्ञान के विस्तार में न जाकर डा. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव की, *शैली विज्ञान: आलोचना की नयी भूमिका*, को देखना अधिक उपयुक्त होगा। जैसा कि कहा जा चुका है डा. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव अपने को 'रूपवादी चिंतन' से जुड़ा हुआ मानने में नहीं शरमाते जबकि डा. नामवरसिंह और डा. विद्यानिवास मिश्र गुड़ खाकर भी गुलगुलों से परहेज़ करते हैं। डा. श्रीवास्तव को विश्व के किसी रूपवादी समीक्षक से परहेज़ नहीं है। उनका विरोध न रेन्सम से है और न याकोब्सन से और न ही भारतीय काव्यशाखा की रूपवादी परंपरा से। वे सही ही फ़रमाते हैं कि 'संस्कृत की भाषावादी चिंतनदृष्टि. हमारी साहित्यिक समीक्षा की परंपरित दृष्टि है'।

वे डा. रघुवंश के इस कथन से भी सहमत हैं कि 'भारतीय काव्यशाखा सदा से वस्तुपरक चिंतन रूपवादी विश्लेषण पर बल देता है।' रूप की क्षतिपूर्ति करने वाले रूपवादी डा. नामवरसिंह तो श्रीवास्तव जी के गुरु हैं। श्रीवास्तव जी स्वयं स्वीकारते हैं कि वे 'डा. नामवरसिंह जी' की प्रेरणा के परिणाम हैं और 'शैली विज्ञान पर लिखने की न केवल उन्होंने प्रेरणा दी अपितु गुरु आदेश के साग्रह-भाव के साथ उन्होंने मुझसे लिखवाया भी।

इस तरह हिंदी शैलीवैज्ञानिक भी अपने को 'प्रेमघन' के रूपवादी वंशगोत्र से जोड़ता है। रूपवाद की सबसे अधिक पिटी पिटायी अवैज्ञानिक मान्यता, 'साहित्य की स्वायत्त सत्ता' को डा. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव भी अपनी 'नयी भूमिका' के आदि, मध्य और अंत में विशेष रूप से दुहराते तिहराते हैं :

पृष्ठ-3 पर : 'कृति के रूप में साहित्यिक रचना, भाषा की अपनी सीमा में बंधी एक स्वनिष्ठ (आटोनोमस) इकाई है।'

पृष्ठ-41 पर : '...कविता स्वनिष्ठ (आटोनोमस) है और उसकी सत्ता स्वायत्त है।...कोई भी साहित्यिक कृति अपनी सत्ता धारण करने के उपरांत अपना निजी व्यक्तित्व ग्रहण कर लेती है...कविता का अपना कथन स्वयं कविता के दायरे में बंधा रहता है। उस दायरे से बाहर जा वस्तुचयन कर न तो श्रोता के लिए कविता को दूषित करना अभीप्सित है और न अतिरिक्त वक्तव्य देकर काव्यानुभूति को विकृत करना ही कवि के लिए वांछित है।

पृष्ठ-90 पर : 'आधुनिक भाषाविज्ञान की पहली मान्यता है कि कोई भी साहित्यिक कृति चाहे वह उपन्यास हो या महाकाव्य अथवा कहानी हो या गीत काव्य, वस्तुतः उसी भाषापरक उच्चारण अटरेन्सस के दायरे में सीमित रहती है जो मनुष्यों की भाषा का निर्माण करते हैं। इस सीमाक्षेत्र के भीतर ही कोई कृति अपना जन्म ले सकती है। इसके बाहर न तो उसकी सत्ता होती है और न उसकी संभावना ही है।'

'भाषापरक उच्चारण अटरेन्सस' को ही यथार्थ मानने वाले विश्वभर के रूपवादी उक्त अवैज्ञानिक मान्यता को दुहराते दुहराते नहीं थकते जबकि थोड़ी सी भी व्यावहारिक बुद्धि रखने वाला आदमी उक्त मान्यता के असत्य को भांप सकता है। जब शैली वैज्ञानिक महोदय कृति की 'भाषा को अपनी सीमा में बंधी एक स्वनिष्ठ इकाई मानते हैं' तो वे उसे 'सियार की हो हो' के रूप में देख रहे होते हैं। यह संकुचन और पश्चाद्पदगमन रूपवाद की विशेषता है। यह आकस्मिक नहीं है कि वे यह मानकर चलते हैं कि 'सभ्यता के नये नये आवरण चढ़ने के बाद भी काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा।'

श्रीवास्तव जी का भाववाद तब और निखर उठता है जब वे कहते हैं कि 'प्रक्रिया के धरातल पर विज्ञान और कविता में कोई मूलभूत अंतर नहीं है।' 'कहियत भिन्न भिन्न' की यह भनभनाहट 'मूल और आदिम रूपों' से जुड़ी हुई है। इस भाववाद के अनुसार मूर्त संसार शब्द यानी भाव की प्रतिच्छवि है। भाषा की 'अमूर्त' सामान्यता के कारण ही वे विज्ञान और कविता में अंतर नहीं मानते। श्रीवास्तव जी को सारा ज्ञान विज्ञान मात्र 'भाषिक संरचना' लगता है क्योंकि एक भाषा वैज्ञानिक के लिए सारे धान बाईस पसेरी हैं। भेददृष्टि यहां भी गायब है। मगर श्रीवास्तव जी अपनी भाववादी वैज्ञानिक पद्धति में जहां एक ओर कृति को 'दायरे में सीमित' या

‘स्वायत्त’ व ‘स्वनिष्ठ’ बताते हैं वहीं दूसरी ओर कहते हैं कि ‘कृतिकार (और वैज्ञानिक भी) अपने अनुभव-संसार के आधार पर गृहीत यथार्थ खंड तक अपने को सीमित नहीं रखते वरन् दोनों ही खंड को अखंड तक और सीमित को असीम के छोर तक ले जाना चाहते हैं और इस प्रक्रिया में दोनों ही कल्पनाशक्ति और प्रातिम ज्ञान का अवलंबन होते हैं।’ ‘असीम के छोर’ को देखने वाले ‘वैज्ञानिक’ भाषाविद् का यह कैसा विज्ञान है जो सृजन प्रक्रिया में तो सीमाओं को तोड़ कर अवलंबन की बात करता है किंतु आलोचना की नयी भूमिका में उन अवलंबनों का ज़िक्र तक करने को रोकता है? कृति जब अखंड और असीम से संबद्ध है तो फिर ‘स्वनिष्ठ’ और ‘स्वायत्त’ का क्या अर्थ हुआ? इस वैज्ञानिक समझ को क्या कहा जाये जो यह मानती है कि ‘यथार्थ के जो विभिन्न पक्ष सामने आते हैं उनके मूल में विषयी की अनुभव रीतियां (‘मोड्स आव एक्सपीरियेन्स’) हैं जिनके आधार पर अखंड और अविच्छिन्न यथार्थ को जाना पहचाना जा सकता है।’ श्रीवास्तव जी शायद यह नहीं जानते कि इसे विज्ञान नहीं ‘अनुभववाद’ कहते हैं जिसकी ठुकाई लेनिन ने अपनी पुस्तक ‘मैटीरियलिज़्म एंड ऐम्पिरियोक्रिटिसिज़्म’ (देखिए अध्याय तीन) में इस शताब्दी के प्रारंभ में ही कर दी थी। श्रीवास्तव जी ‘विषयी की अनुभव रीतियां’ अपना कर व्यक्तिवादी रूपवादी समीक्षा दृष्टि ही अपना सकते हैं। इस अनुभववाद से यथार्थ तो छोड़िए वे अपनी असलियत भी नहीं पहचान सकते।

‘विषयी की अनुभव रीतियां’ का फलसफ़ा उस समझ पर आधारित है जिसके अनुसार जगत व्यक्ति इन्द्रियबोध का परिणाम माना जाता है। व्यक्तिवादी दर्शनों में इन अनुभव-रीतियों की बड़ी दुहाई दी गयी है और वर्तमान का निषेध किया गया है। ‘यथा रज्जु अहेः भ्रम’ या ‘गो गोचर जहं लगी मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।’ श्रीवास्तव जी इस फलसफ़े से आगे बढ़ना ही नहीं चाहते। उन्होंने यद्यपि काफ़ी विलायती और देशी भामहों का उल्लेख किया है किंतु उनका शैलीविज्ञान इतना अधिक मौलिक है कि असल नहीं। अपने को ‘वैज्ञानिक’ कहलाने के लिए उन्होंने गद्य में कही हुई बात को चार्ट में दुहरा दिया है तथा आलोचना में अल्फ़ा, बीटा का भी प्रयोग किया है। थीटा, गामा, पाई, फ़ाई आदि और आ सकते थे जिनकी कमी वस्तुतः खटकती है! हे प्रभु, यह तेरी दया नहीं तो और क्या है? कैसे कैसे विद्वान हिंदी को दिये हैं!

शैलीविज्ञान रूप में नया है किंतु सारतः वह पुराने रूपवाद की एक और ‘भाषिक संरचना’ है। व्याख्याओं के संबंध में यानी व्यवहार में श्रीवास्तव जी सामंती सौंदर्यशास्त्री और रूपवादी आलोचक डा. नगेंद्र को भी मात दे देते हैं। जिस प्रकार डा. नगेंद्र बकौल दिनकर ‘श्रीमान् लिबिडो’ को हर जगह ढूंढ़ लेते हैं, उसी तरह डा. श्रीवास्तव अपने भाषाविज्ञान की भूतवाधा से छठी कक्षा का ‘व्याकरण’ हर कविता

में ढूँढ़ लेते हैं। निर्णय की अतार्किक यादृच्छिकता के मामले में दोनों एक हैं क्योंकि उनका निर्णय 'विषयी की अनुभव-रीतियां' ही करती हैं, कोई विज्ञान-फिज्ञान नहीं करता।

डा. नगेंद्र ने *कामायनी* के मनु के बारे में लिखा : 'मनु, जैसा कि स्वयं प्रसाद जी ने लिखा है कि ...मनोमय कोश में स्थित जीव का...प्रतीक है।' तो डा. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव भी केदारनाथसिंह की एक कविता की शैलीवैज्ञानिक व्याख्या में 'दरपनों' को 'मन का प्रतीक' कहते हैं, उनके तर्क अच्छा खासा हास्य उद्भूत करते हैं। 'अनागत' शीर्षक कविता की शैलीवैज्ञानिक व्याख्या का नमूना देखिए :

कविता के शीर्षक को ही लें - 'अनागत' अर्थात् अन् - आगत।
अन् उपसर्ग निषेधात्मक अर्थ को लिए है और वह 'अनाचार',
'अनायास' आदि शब्दों के निषेधार्थी अन् प्रत्यय के समानांतर है
अतः 'आगत' का अर्थ हुआ 'आया हुआ' और 'अनागत कहने
से हुआ आगत का निषेध।

शीर्षक के साथ 'अनाचार' करने के बाद श्रीवास्तव जी ने नामवरसिंह की व्याख्या को ग़लत ठहराया और मियां की दौड़ मस्जिद तक वाली कहावत चरितार्थ करते हुए कहा कि ' 'अनागत' कविता, सृजनात्मक प्रक्रिया के एक विशिष्ट पक्ष पर आधारित कविता है, वह काव्यवस्तु के रूप में संवेदनाओं की स्वीकृति की कविता है।' उन्होंने जितनी भी कविताएं अब तक पढ़ी हैं, उन्हें वे सभी कविता के बारे में कविताएं लगती हैं। मगर फिर भी 'अनागत' कविता की उसी पुस्तक में अन्यत्र पद-व्याख्या करके (प्रधान उपवाक्य, आश्रित उपवाक्य आदि ढूँढ़ कर) वे निम्न पंक्तियों के बारे में बहुत ही 'वैज्ञानिक' (?) निष्कर्ष निकालते हैं :

फूल जैसे अंधेरे में दूर से ही चीखता हो
इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है

उक्त पंक्तियों की शैली वैज्ञानिक व्याख्या इस प्रकार की गयी है :

स्थानवाचक पदबंध 'दरपनों में' को लें जो मन का प्रतीक बनकर आया है। 'दरपन' में मन की भांति वस्तुभाव को प्रतिबिंबित करने का गुण है पर वह मन, दरपण की भांति कोई ठोस वस्तु नहीं जिसको गिना(काउंट) या मापा (मेज़र) जा सके।...अंधेरा अगर दरपन की भांति ठोस है तो उससे अंधेरे का 'घनीभूत रूप' प्रत्यक्ष होता है और इसके साथ अगर 'दरपन' मन का प्रतीक है तो इससे 'घनीभूत अवचेतन मन' की ही व्यंजना निकलती है।

उक्त शैली वैज्ञानिक व्याख्या में सिर्फ अंग्रेज़ी व्याकरण के अनूदित शब्दविशेषणों के अलावा कुछ भी नया नहीं है, मनमाने अर्थ के चक्कर में उन्हें हिंदी व्याकरण का

इतना भी शऊर नहीं आया कि शब्द 'दरपनों' बहुवचन है और 'मन' एकवचन। उन्हें 'एक' की गिनती भी नहीं आती। अगर 'दरपन' को गिना जा सकता है तो 'मनों' को गिना जा सकता है। उन्हें यह कौन समझाये कि 'मन' भी ठोस वस्तु है, जो मन सोचने का काम करता है वह पदार्थ है और अधुनातन खोजों ने इसे सिद्ध कर दिया है। श्रीवास्तव जी को विज्ञान लिखने के वजाय अब पढ़ना भी चाहिए!

शैलीवैज्ञानिक की व्याख्याएं 'नयी' केवल इस अर्थ में है कि उन्होंने चार्ट आदि बनाये हैं तथा तालिकाएं बनायी हैं। इस तरह वाक्यों को सूक्ष्मतर करने का प्रयास किया है। जब पदव्याख्या को संकेत भाषा द्वारा निबद्ध करके भी वे किन्हीं परिणामों पर नहीं पहुंचे तो डा. नगेंद्र जैसी टिप्पणी करके 'अवचेतन मन' में डुबकी लगाने लगे। डा.रवींद्रनाथ श्रीवास्तव से कोई पूछे कि यह 'अवचेतन मन' मनोविश्लेषणशास्त्र का है, तो कविता के संदर्भ में यह साहित्येतर मापदंड क्यों ग्रहण करते हैं? एक स्थान पर वे इसी दोष के कारण डा. नगेंद्र की आलोचना करते हैं कि 'डा. नगेंद्र ऐसे सुधी आलोचक भी काव्यविश्लेषण और काव्यमूल्यांकन अथवा कविता और काव्यफलन की सूक्ष्म विभाजन रेखा को ठीक से पकड़ने में असमर्थ हैं।' डा.श्रीवास्तव अपनी प्रायोगिक समीक्षा के बारे में कुछ ज़्यादा ही खुशफ़हम हैं, मगर पाठक को लगता है कि वे भी डा. नगेंद्र की तरह रूपवादी ही हैं, इसीलिए वे भी रचना के सार को 'ठीक से पकड़ने में असमर्थ हैं।' और इसका उन्हें खुद अहसास नहीं।

जिस प्रकार अपने 'शब्दवाद' और 'काव्यभाषावाद' के भूत के प्रभाव में डा. नामवरसिंह ने वे कविताएं चुनी थी जिनमें 'शब्द' या 'भाषा' जैसे प्रयोग आये थे, उसी प्रकार डा.श्रीवास्तव ने भी उन कविताओं को दुहराया और कुछेक और कविताएं भी वैसी ही दूढ़ लीं तथा उन्हें कविता के बारे में कविताएं सिद्ध कर दिया। मेरा विश्वास है कि श्रीवास्तव जी को बाल्मीकि से लेकर मनमोहन तक की कविताएं भाषाविज्ञान के बारे में कविताएं मालूम होती होंगी। तुलसी का *रामचरितमानस* तो शुरू ही होता है भाषाविज्ञान के प्रथम पाठ से, 'वर्णनामर्थसंधानाम्' आदि। दूसरे तुलसी यह मानते थे कि 'ब्रह्मराम ते नामु बड़ बरदायक बरदानि'। इसलिए उनका महाकाव्य तत्वतः 'नामचरितमानस' यानी 'संज्ञाचरितमानस' यानी शुद्ध 'भाषाविज्ञान' सिद्ध हुआ। इसी तरह कालिदासकृत *अभिज्ञान शाकुंतलम्* भी 'शैलीविज्ञान' का ही प्रतीक हो सकता है क्योंकि 'अभिज्ञान' यानी संकेत-शब्द यानी 'शैली'। श्रीवास्तव जी शकुंतला को 'अवचेतन मन' में बैठी 'शैली' की प्रतीक सिद्ध कर ही सकते हैं जिसके गर्भ में 'भरत' जो विज्ञान का प्रतीक है विराजमान है! कलाकार कवि दुष्यंत का प्रतीक सिद्ध किया जा सकता है और आज का शैलीवैज्ञानिक खुद को उसके उस सामंत का सहयोगी विदूषक का मान सकता है। देखए, कितने ठाठ के साथ सिद्ध

हो गया कि *अभिज्ञान शाकुंतलम्*, वास्तव में श्रीवास्तव जी का शैलीविज्ञानम् है।'

और अधिक विस्तार में न जाकर हिंदी में प्रकट हुए एक दूसरे शैलीवैज्ञानिक की मान्यताओं का भी जायजा लिया जाये। डा. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव की देखादेखी 'पतंग की पूंछ की रीति' से डा. विद्यानिवास मिश्र ने अपने *रीतिविज्ञान* (1973) को हिंदी रूपवाद में जोड़ दिया। उनके रोल को उन्हीं के शब्दों में यों कहा जा सकता।

जिस प्रकार पतंग की पूंछ, जो देखने में, उसके ऊपर उड़ने में बाधक प्रतीत होती है, एक बोझ बनकर उसे नीचे खींचना चाहती है, किंतु वस्तुतः यह पूंछ ही ललित और यथारुचि नियंत्रित गति के साथ उड़ने में सहायता देती है, उसी प्रकार विशेष की प्रतीति कराने वाला सादृश्यविधान सामान्य का ऊपरी तौर से खंडन करता हुआ भी सामान्य को ऊपर उठाते रहने में सहायक होता है।

डा. मिश्र ने अपना 'शैलीविज्ञान', 'विशेष की प्रतीति कराने वाला 'सादृश्य विधान' बना कर 'रीतिविज्ञान' के रूप में पेश किया है, जो उसका 'ऊपरी तौर से खंडन करता हुआ भी' रूपवादी समीक्षा के ऊपर ऊपर उड़ने के काम में 'अधिक सहायक होता है।' शैलीवैज्ञानिक डा.श्रीवास्तव जी की ही तरह 'रीतिविज्ञान' के रचयिता भी 'प्रेमघन' की परंपरा के वाहक डा. नामवरसिंह के ऋणी हैं। मिश्र जी लिखते हैं कि वे उनके इसलिए ऋणी हैं क्योंकि 'उनके मन में रीतिविज्ञान से एक बिदकन है, इसके वावजूद वे रीतिविज्ञानपरक व्याख्याओं में रुचि लेने की कृपा करते हैं और बिना मुझ से पूछे, मेरे लेख मुझे रूपवादी के रूप में बदनाम करने के लिए *आलोचना* में छाप भी लेते हैं।'

मिश्र जी को यह ग़लतफ़हमी है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की रूपवादी परंपरा वालों को स्वखलनशील हर ईंट पत्थर का ज़रूरत है, डा. विद्यानिवास मिश्र ने स्वयं स्वीकारा है :

मेरा विश्वास है कि सरणियों के परिचय से सरणि का उतना ज्ञान नहीं होता, जितना सरणि की खोज के लिए अंधेरे में भटकते हुए अपने पदबोध से एक सरणि पर चलने से होता है, ऐसे में स्वखलन भी होते हैं।

डा. विद्यानिवास मिश्र 'अंधेरे में भटकते हुए अपने पदबोध से' यह शायद नहीं जानते कि जिस सरणि पर खड़े हैं वह रूपवाद की ही सरणि है। विश्वभर के सारे शैलीविज्ञान के महंत पुकार पुकार कर कहते हैं कि वे रूपवादी हैं, फिर पतंग की पूंछ ही क्यों 'रूपवादी के रूप में बदनाम' होने से डरे। 'काजर की कोठरी में कैसा

हूँ सयानो जाय/ एक रेख काजर की लागि है पै लागि है।’

मिश्र जी अपने रूपवादी सिद्धांत ‘लिंग्वो-स्टाइलिस्टिक्स’ का घनघोर भारतीयकरण करने के पक्ष में हैं, इसीलिए वे भाषा के ‘हेयर स्टाइल’ को ‘रीतिविज्ञान’ कहना ज्यादा पसंद करते हैं, बस श्रीवास्तव जी से उनका इतना भतभेद है कि जहां वे ‘रेलगाड़ी’ कहना पसंद करते हैं, वहां मिश्र जी उसे शायद ‘लौहपथ गामिनी’ कहना चाहेंगे, क्योंकि हमारे वेद शास्त्रों, या भरत और वामन ने ‘रेल’ का कहीं उल्लेख नहीं किया। गहाजनी सभ्यता की तराजू लेकर वे कहते हैं कि ‘तौलने पर...’रिति’ शब्द में ... क्षमता सबसे अधिक प्रतीत होती है।’

प्रेमघन के पूर्वजों और पश्चजों की परंपरा से जुड़कर वे कहते हैं कि ‘...प्राचीन भारतीय भाषासंबंधी चिंतन, रीतिविज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण अवदान प्रस्तुत करता है। उक्त चिंतन में ‘भाषा की रीतिगत विशेषताओं के विश्लेषण पर ही विशेष बल दिया गया है।’ मिश्रजी की यह सोच बिल्कुल सही है। इसीलिए उन्हें अपने को रूपवादी समझने में शर्म नहीं करनी चाहिए क्योंकि विश्वभर के सारे रूपवादी युग युग से यही गुहार लगाते आये हैं और भाषा, शब्द, शैली, रीति की विशेषताओं पर ‘विशेष बल’ देते आये हैं। जुरा गहराई से सोचें, तो पायेंगे कि कथनी पर ‘विशेष बल’ देने वाला व्यक्ति लाभलोभवादी वर्ग के स्वार्थों की ही पुष्टि करता है। जो बनिये का मित्र होता है वही बनिये की दूकान पर बैठकर उसके असत्य भरे कथनों की हां में हां मिलाकर ग्राहक को यह उपदेश देता है कि लालाजी की कथनी पर विश्वास करो, भले ही ठगे जाओ। मिश्र जी भी इसी वर्गमूल से जुड़े हैं। ‘आत्मानम् विद्धि।’

लाभलोभवादी वर्ग से जुड़ा मनुष्य एक भंयकर भाववाद और अंतर्विरोध का शिकार होता है। सामाजिक यथार्थ उसे ग़लत बात को ‘विज्ञान’ का ठप्पा लगा कर पेश करने को बाध्य करता है और आदिम भाववाद उसे अपनी ओर खींचता है और वर्तमान नया भाववाद दूसरी ओर। अतः बेचारा न घर का रहता है न घाट का। मिश्रजी को समीक्षा के लिए एक ओर तो पुराने आजमाये हुए भाववादी पैमाने ‘महत्वपूर्ण अवदान’ प्रदान करने वाले प्रतीत होते हैं, तो दूसरी ओर आधुनिक ‘तनाव’ की झोंक में वे ही पैमाने कूड़ेदान लगने लगते हैं :

आधुनिक कविता ही नहीं, हर अच्छी कविता इस प्रकार के तनाव से होकर गुज़रती है और उसकी समझने के लिए पुराने आजमाये हुए पैमाने बेकार साबित होते हैं और उस कविता को, उसी के माध्यम से, बार बार उसके एक एक उपादान को जोड़ते तोड़ते हुए ही समझा जा सकता है।

मिश्रजी के ‘रीति विज्ञान’ में पहले पुराने पैमानों से ‘जोड़’ है फिर ‘तोड़’

है। यह जोड़ तोड़ उनकी 'सर्जनात्मक समीक्षा के नये आयाम' को भी जोड़ तोड़ देती है। इस आत्मछीछालेदर के बाद उन्होंने कुंवरनारायण की एक कविता 'रोज़ की तरह' की जोड़ तोड़ की है। इसकी व्याख्या का पूर्वपक्ष शैलीवैज्ञानिक न होकर प्रभाववादी पुरानी परिपाटी का ही है जिसमें विशेषणपरक वक्तव्य हैं। उत्तरपक्ष में एक घालमेल है। पूरी व्याख्या में उन्होंने पुरानी परंपरा से कुछ अलंकारों के नाम, अमेरिकी 'नयी समीक्षा' से 'तनाव'आदि और शैली विज्ञान से व्याकरण के शब्द लेकर 'पंचमेल' व्याख्या प्रस्तुत की है। सारी व्याख्या यहां उद्धृत करना संभव नहीं है सिर्फ एक दो वाक्य ही समझदार पाठक के लिए बतौर इशारे काफी होंगे :

(क) 'बिंब को समष्टि जीवन की व्यापक बेचैनी से जोड़ने के लिए आसमान रूपक जोड़ दिया गया है।

(ख) '...मूल में आधुनिक बेचैनी की अत्यंत परिचित प्रतिभा है --- भीतर के तनाव और भीतर की परेशानी को निरंतर सिगरेट पीते रहकर भूलने की कोशिश करना।'

(ग) 'शाम के उपमान के रूप में मेज़ पर लुढ़की शराब...'

(घ) 'रूपक के स्थान पर उपमा के प्रयोग के अलावा दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि पहले खंड में वर्तमानकालिक कृदंत ('बीता हुआ') का प्रयोग है।'

(च) 'दूसरे खंड में दिन का एक पूरक विधेय के रूप में प्रयुक्त एक क्रियाविशेषण है .. 'औंधे मुंह'।

इस प्रकार कुंवरनारायण की कविता को 'औंधे मुंह' गिराकर मिश्रजी केदारनाथसिंह की एक कविता लेते हैं : 'खोल दूं यह आज का दिन'। रवींद्रनाथ श्रीवास्तव की नक़ल पर वे भी शीर्षक के टुकड़े करते हैं। पूरी कविता की व्याख्या में यही रीति अपनायी है कि एक चम्मच भारतीय काव्यशास्त्र, एक चम्मच अमेरिकी नयी समीक्षा, एक चम्मच छठी कक्षा का व्याकरण (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण)। कहीं कहीं 'बलाघात' पर नज़र डाली है और 'पूरी कविता में ऐसी कुल तीन पंक्तियां' ढूंढ निकाली हैं 'जिनमें केवल एक एक शब्द है।' देखा, कैसा 'नया आयाम' खोज निकाला है मिश्र जी ने!

डा. विद्यानिवास मिश्र ने 'रीतिविज्ञान' के परिशिष्ट-2 में काव्यव्याख्या पूरे विस्तार के साथ प्रस्तुत की है। शुरुआत में 'प्रलय की छाया' देखी है फिर 'राम की शक्तिपूजा' को जोड़ते तोड़ते हुए 'असाध्य वीणा' को बजाने की रीतिपरक (परंपरापरक)

कोशिश की है। यों तो तीनों ही कविताएं लगभग डूबते काव्य नायकों की कविताएं हैं। पहली कविता में 'असफल सृष्टि सोती/ प्रलय की छाया में' और दूसरी कविता में भी 'है अमा निशा' और तीसरी में 'मृत्यु का महामौन' है। किंतु निराला में अपने युग की 'जय होगी' की आशावादी परिणति है जबकि शेष में पूंजीवादी सभ्यता के डूबने पर दुखी होने वालों को मृत्युबोध कुछ ज्यादा ही डुबा रहा है। कविताओं की विस्तृत व्याख्या पर टिप्पणी विस्तार भय से यहां संभव नहीं है, किंतु उनका फार्मूला वही है जिसका उल्लेख किया जा चुका है।

जनवादी चेतना के दबाव के कारण मिश्रजी को मात्र 'काव्यभाषा के विश्लेषण' में पूरा विश्वास नहीं हो पा रहा है। इसीलिए वे एक स्थान पर कह उठते हैं कि : 'इसके लिए स्वतंत्र रूप में मापदंड निर्धारित करने होंगे और सामान्य भाषा के विश्लेषण की अपेक्षा कुछ अतिरिक्त को भी इसमें सन्निविष्ट करना होगा।' ये 'अतिरिक्त तत्व' इन शब्दादियों ब्रह्मवादियों को अभी समझ में नहीं आ रहे हैं, क्योंकि फ़िलहाल तो वे 'डूबने' का इंतज़ार कर रहे हैं। मिश्रजी के शब्दों में 'काव्यवस्तु डूबे बिना नहीं दिखायी पड़ती और वह डूबने की प्रक्रिया भी शब्दार्थ व्यापार ही है क्योंकि शब्द ही डूबने का प्रेरक भी है, शब्द ही तिरने का साधन भी।' मिश्रजी की इस 'डूबने' की ओर शुभ यात्रा में हमारी शुभकामनाएं उनके साथ हैं।

रूपवाद की दूकान सिर्फ तब तक चलती है जब तक सही वैज्ञानिक सूझ बूझ व्यापक नहीं बनती। बार नयी बोटल में वही सड़ा हुआ सारतत्व जो कि कटेंट में कुछ भी नहीं होता पेश कर दिया जाता है, मगर शोषित वर्ग मात्र शीशी से नहीं, कटेंट से उस वस्तु को परखना चाहता है कि असलियत क्या है? अगर समीक्षा वस्तुसत्य को पूरे संदर्भों और अंतःसंबंधों के खुलासे के साथ पेश नहीं करती तो वह समीक्षाकला सिर्फ कला के लिए होती है, वह रूपवाद का एक हिस्सा होती है जो व्यापक जनसमूह के दुश्मनों का स्वार्थ साधन करती है। रूपवाद से वस्तुवादी चिंतन की टकराहट हमेशा रही है और इसके फलस्वरूप रूपवाद की अधःपतन (डूबना !) और वस्तुवाद या यथार्थवाद का उत्कर्ष होता गया है। आज भी वैज्ञानिक यथार्थवाद रूपवाद से संघर्षरत है और समाज की विकसनशील शक्तियों से प्रतिबद्ध है। वैज्ञानिक समीक्षा का तर्कसंगत बिकल्प द्वंद्वात्मक व ऐतिहासिक भौतिकवादी समीक्षा पद्धति ही हो सकती है जिसका सतत विकास विश्वस्तर पर होता जा रहा है।

इस विकल्पी समीक्षापद्धति का हिंदी में वर्तमान स्वरूप क्या हो सकता है, इस पर भी विचार आवश्यक है। आज के दौर में इसे हम प्रतिबद्ध समीक्षा कह सकते हैं। इसके स्वरूप पर मैंने एक स्वतंत्र लेख *पश्यंती*, मार्च-अप्रैल, 1976 में प्रकाश डाला है। सार रूप में उसे यहां देना आवश्यक है।

प्रतिबद्ध समीक्षा का आधार शोषितवर्ग का अधुनातन वैज्ञानिक दर्शन

माक्सवाद है जिससे विश्व के कई देश शोषणहीन समाज की स्थापना करने में समर्थ हुए हैं और हो रहे हैं। अतः यह समीक्षादृष्टि इस विश्वदृष्टि से जीवन, जगत, साहित्य कला को देखती परखती है। साहित्य के विश्लेषण-संश्लेषण में भी हमें सर्वप्रथम उस कृति के भीतर-बाहर व्याप्त ऐंटीथीसिस का संघर्ष, निषेध का निषेध, अंतःसंबंध और परिणामात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन की विकासप्रक्रिया को देखना होगा। बाहर यह संघर्ष समाज और युग की विशेषता होता है जिससे उस कृति का अंतःसंबंध है, भीतर यह संघर्ष रूप और वस्तु और रूप के भीतर व वस्तु के भीतर भी होता है। निषेध का निषेध व परिमाणत्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन रचनाप्रक्रिया के अंग होते हैं और इसीलिए सौंदर्यशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक अंतःसंबंधों की तलाश में सहायक होते हैं। इसी प्रक्रिया में हम रचना के अंतर्निहित रुझान को संश्लेषण के रूप में पाते हैं क्योंकि मात्र विश्लेषण पर्याप्त नहीं होता। संश्लेषण द्वारा कृति की वर्गसापेक्षता का उद्घाटन व सामाजिक-सांस्कृतिक विकास में उस कृति की भूमिका की जांच पड़ताल इस समीक्षा द्वारा होती है। अन्य समीक्षा-पद्धतियां सतह तक सीमित होने के कारण घनघोर रूप से एकांगी हैं तथा वे साहित्य को जड़, निर्जीव 'कलावस्तु' (कलाबत्तू) मानती हैं। प्रतिबद्ध समीक्षा कला, संस्कृति, साहित्य को जीवंत भौतिक शक्ति के रूप में मानती हैं, इसीलिए उसकी पक्षधरता की तलाश करती हैं, क्योंकि वर्ग समाज में कोई सत्य अवर्गीय नहीं है। तटस्थ भी एक किनारे लगे होते हैं।

प्रतिबद्ध समीक्षा जब अंतःसंबंधों की तलाशने की बात करती है तब वह स्वयं एक निरवधि विकासक्रम से जुड़ जाती है और उसकी संघर्षी भूमिका होती है। रूपवादी कभी कविता को कविता तक सीमित करते हैं, कभी भाषा तक, कभी शब्द तक तो कभी व्याकरण और बलाघात तक। प्रतिबद्ध समीक्षा कला-साहित्य-संस्कृति को अधिक से अधिक आयामों में देखती है। हिंदी में भी इस बिकसनशील प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। अगर डा. रामविलास शर्मा ने कृतियों को समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने की शुरुआत की, तो मुक्तिबोध ने उसके वर्गीय अंतःसंबंध और सौंदर्यशास्त्रीय व मनोविश्लेषणात्मक पक्षों को जोड़कर उसे और विकसित किया। आज के प्रतिबद्ध समीक्षक कृतियों के विश्लेषण-संश्लेषण की पद्धति के विकास के लिए कृति की संरचना के उपादानों तथा बाहरी यथार्थ व ऐतिहासिक तर्कसंगत परिप्रेक्ष्य के बीच अंतःसंबंधों की तलाश के साथ वर्तमान संघर्ष में साहित्य व कला की भूमिका को विश्लेषित-संश्लेषित करते चल रहे हैं। इस विकास को भविष्य की समाजवादी पीढ़ियां और आगे तक ले जायेंगी, तब रूपवाद ज़मीन चाट रहा होगा।

कंक में 1979 में प्रकाशित

जगदीश गुप्त की त्रयी-1 की भूमिका बनाम बौद्धिक दिवालियापन चंचल चौहान

पिछले वर्षों में जनवादी शक्तियों के संगठित होने की प्रक्रिया कुछ तेज़ हुई। हिंदी के जनवादी लेखक लगातार गोष्ठियों, सम्मेलनों के माध्यम से एकजुट होते चले जा रहे हैं। इन बढ़ते हुए कदमों से जनविरोधी खेमे में अकुलाहट पैदा हो गयी। मरता क्या न करता? अतः पूंजीवादी व्यवस्था के गुलाम पालागनवादी चारण नट जनवादी हिंदी साहित्य के खिलाफ अपने पुराने खोखले बांस ले लेकर आ गये। उनके प्रहार शुरू हो गये हैं। ये प्रहार विभिन्न दिशाओं से हो रहे हैं। एक प्रहार 'बूढ़े गिद्ध' की ओर से पुराने कलाकारों को इकट्ठा करके शुरू हुआ है। डालमिया परिवार के *नया प्रतीक* का खोखला घुना बांस लिये 'नट्टिनि की एड़ी के घुंघुरू' की 'गमक' सुनने वाला शिखंडी नट मैदान में उतर आया है। दूसरा प्रहार वामपंथी शक्तियों को आपस में लड़वाने के उद्देश्य से शुरू हो चुका है। प्रकाश में न आने तक उसका जिक्र में नहीं करना चाहता। तीसरा प्रहार 'एक नयी शुरुआत' का दंभ लिये जगदीश गुप्त ने किया 'कवितावृत्त' की प्रथम प्रस्तुति त्रयी-1 की भूमिका में। चुकी हुई पीढ़ी के कुछ मठाधीशों ने नवांकुरित वामपक्ष की युवा पीढ़ी को ध्वस्त या विघटित करने का प्रयत्न आरंभ कर दिया है। प्रतिवद्ध लेखकों को इन साजिशों से तुरंत सावधान लेखकों हो जाना चाहिए। नरभक्षी व्यवस्था के इन चुके हुए पिट्टुओं के नंगा करना तथा इनकी विषाक्त 'सागरमुद्रा' और 'युग्मधर्मिता' का बखिया उधेड़ना बहुत ज़रूरी हो गया है।

नया प्रतीक टांयटांय फिस्स करके रह गया। नयी पीढ़ी ने उसे इग्नोर कर उसके पूंजीवादी मंसूबों पर पानी फेर दिया। उसके खोखलेपन को दर्शाना फिर भी ज़रूरी है। आशा है यह काम अन्य साथी करेंगे। यहां मैं त्रयी-1 के संपादक की दादागीरी तथा धिनौने मंतव्य को उजागर करूंगा। त्रयी-1 में फंसाये गये कवियों पर मैं अभी कुछ नहीं कहना चाहता क्योंकि न जाने किन परिस्थितियों में वे 'टूल' बने या फंसाये गये हैं। मुझे लगता है कि जगदीश गुप्त ने वाम पक्ष के युवा आक्रोश को नेतृत्व देने की छलपूर्ण नीयत से उन्हें फंसा फंसा कर खत्म कर देने का उपाय रचा है। कवियों के भीतर छिपे व्यक्तिवाद के ओरांग उटांग को उकसा कर तथा अपने संपादकत्व में उनकी छपास को तृप्त करके वामपक्ष के सशक्त अंकुरों को खुटक डालने का उनका प्रयास उनकी भूमिका से स्पष्ट हो जाता है। *कवितावृत्त* एक

विषवृत्त (Vicious Circle) के रूप में बनाया गया है। व्याध के चंगुल में फंसी चिड़ियां इस कवितावृत्त का असली मंसूबा समझें। यह वृत्त सांकेतिक तौर पर पूरी नयी पीढ़ी को खत्म करने का उपाय है जिसे महाजनी सभ्यता के ठेकेदार जगदीश गुप्त ने हमारे, आपके तथा शोषित जन के खिलाफ रचा है। आयरनी यह है कि इसे उन्होंने एक 'नयी शुरुआत' कहा है। इस कुचक्र में नयी पीढ़ी को फांसने के लिए वे शहर शहर घूम रहे हैं। अपने पूंजीपति आका, भारतीय ज्ञान को पीठ पर लादे वे आजकल इसी चाकरी में लगे हैं। यह मैं भावावेश में आ कर नहीं कहा रहा। इसका प्रमाण है जगदीश गुप्त का नया संकलन, *युग्म* जिसमें पहले ही चित्र में उन्होंने अपनी ईमानदारी और प्रामाणिक अनुभूति चित्रित कर दी है। उस चित्र में उनका आशिक कपड़े उतार कर उनके साथ समलैंगिक मैथुन कर रहा है। सनातन पुरुष और सनातन नारी युग्म के कामाध्यात्म पर तो दिनकर को लखटकिया पुरस्कार मिल चुका है। अब ज्ञानपीठ और गुप्तजी के बीच हो रहे इस मौलिक कामाध्यात्म की थीम पर चित्रित *युग्म* को भी पुरस्कार तो मिलना ही चाहिए। लगता है, एक लाख के लाभ लोभ में ही जगदीश गुप्त को अपनी बुढ़ैती वयस में यह शौक सुझा है!

सच यह है कि जब महाजनप्रवर को यह दिखायी दिया कि उनके आकाओं के खिलाफ एक संगठित शक्तिमान स्वर फूट उठा है तो वे चिंतित होकर उनकी रक्षार्थ तलवार भांजते हुए नंगे ही निकल आये। यह भी हो सकता है कि दुष्ट शोषकवर्ग ने इस बेचारे गुप्त दासानुदास को लाभलोभ देकर एक 'नयी शुरुआत' के लिए विवश किया हो। क्या यह आकस्मिक है कि यह शुरुआत भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा *युग्म* जैसे उनके मोटे फूहड़ कोकशास्त्रनुमा काव्यसंकलन के छापे जाने से हुई है? ज़ाहिर है कि भारतीय ज्ञानपीठ ने कागज़ के कृत्रिम संकट की घड़ी में भी गुप्त जी को अनुगृहीत किया है, अतः ऋणी जगदीश गुप्त को भी पूंजीपतियों की रक्षार्थ कुछ करना चाहिए। *त्रयी-1* की भूमिका उसी कुछ का प्रतिफलन है। इस लंबी भूमिका के प्रथम खंड कविता के बारे में वही पुराना भाववादी टिंडोरा पीटता है जिसकी असलियत आधुनिक ज्ञान ने खोल दी है। वे फरमाते हैं, 'कविता अंतर्मथन से उपजती है, आक्रमण से नहीं।' यह कहने की ज़रूरत उन्हें इसलिए महसूस हुई क्योंकि इधर के कवियों का पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था के प्रति आक्रामक रवैया, उन्हें रास नहीं आता है। आये भी कैसे ? उनके आकाओं पर होने वाले प्रहार तथा वामपंथी शक्तियों के रचनात्मक प्रयासों से उनकी छाती जो फटती है। वे मानते हैं कि 'कविता का गहरा नाता मनुष्य के भीतर सक्रिय उस तेजवान अंश से है जो सारे मानव मूल्यों का उद्गम कहा जा सकता है।' नयी युवा पीढ़ी मानव मूल्यों की बात हवा में नहीं करती। वह जानती है कि सारे मूल्य वर्गसापेक्ष होते हैं। यदि आज का

कवि शोषक वर्ग को खत्म करने की बात करता है यानी शोषणविहीन समाज का सपना देखता है तो महाजनी सभ्यता के दासानुदासों को बेचैनी महसूस होने लगती है और वे मानव मूल्य और आंतरिकता की पुराना राग अलापने लगते हैं। आज का हिंदी का जागरूक पाठक जानता है कि यह राग कितना पुराना है। इसे अज्ञेय, भारती तथा लक्ष्मीकांत वर्मा आदि ने कितनी बार कितने रिकार्डों में बजाया है कि यह रिकार्ड घिसपिट कर पुराना और मैला हो गया है। आश्चर्य है कि जगदीश गुप्त इसे फिर भी 'एक नयी शुरुआत' कह रहे हैं। वाह रे नयापन।

उन्हें 'समसामयिक दृश्यपट' में सबसे अधिक खतरा मुक्तिबोध-काव्य से दिखायी दिया। वह भी इसलिए कि वे मार्क्सवादी समझ के साथ 'जागृत युगबोध के सशक्त कवि थे' और फिर जगदीश गुप्त खुद ठहरे सुषुप्त युगबोध के अशक्त कवि, अतः बैर स्वाभाविक है। गुप्तजी ने अपनी अशक्त भड़ास मार्क्सवाद पर निकाली और अपना फटा बांस लेकर स्व. मुक्तिबोध को सुझाव भी देने लगे : 'यदि मुक्तिबोध द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुयायी न होकर निराला की तरह अद्वैतवाद से अनुप्रेरित होते तो निश्चय ही उनके मूल्यांकन की स्थिति जैसी है उससे भिन्न होती।' (त्रयी-1, पृ. 5) इस सुझाव में जगदीश गुप्त का बौद्धिक दिवालियापन सामने आ गया। जो आदमी आज के युग में भी अद्वैतवाद के हवाई दर्शन का पंडा बनने में गर्व महोसूस करता हो और वैज्ञानिक समझ को नकारता हो, वह कितना खोखला है, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। क्या महाजनप्रवर को यह नहीं मालूम कि द्वंद्वात्मकता प्रकृति का नियम है, समाज की गति का नियम है। मानव ने अपार कष्ट और श्रम के बाद जिस वैज्ञानिक समझ को हासिल किया है उसे वनारस के पंडों की तरह एक झटके में अद्वैतवाद के सड़े गोबर से लीप देना कोई मौलकता नहीं और न कोई नयी शुरुआत है।

अपनी अतार्किक गुलामीपरस्त खोपड़ी को उन्होंने मार्क्सवाद के वटवृक्ष से दे मारा है। इसके लिए बच्चन के एक संदर्भच्युत पत्र की बैसाखी पर चल कर तथा रूस, चेकोस्लोवाकिया, चीन, उत्तरी कोरिया के अर्थहीन राजनीतिक संदर्भ देकर अपनी विश्वदृष्टि का इजहार किया। झूठ का आश्रय लेते हुए महाजन प्रवर ने एक झटके में सीपीएम(भारत की कम्युनिस्ट पार्टी-मार्क्सवादी) को गाली दे डाली :

संसार के इतिहास में इस शती की अद्वितीय घटना है - बंगलादेश का उदय । परंतु क्रांति के दावेदार चीन और उसके भारतीय अनुयायियों ने उसका पक्ष न लेकर नितान्त प्रतिक्रियावादी धर्माश्रित देश पाकिस्तान का समर्थन किया। यही है सी.पी.एम. की अराष्ट्रीय अंतराष्ट्रीय नीति। (वही, पृष्ठ 6)

जगदीश गुप्त का इस स्तर का खोखलापन भी 'इस कृति की अद्वितीय घटना है'। यह है उनके 'अंतर्मंथन' का परिणाम। जिसको नंगे चित्र बनाने से फुरसत न हो उसे कुछ पढ़ने पढ़ाने से क्या मतलब। तभी तो निराधार महान झूठ के 'मानव मूल्य' का सहारा पकड़ कर खुद भी उघड़ गये। क्या जगदीश गुप्त ने सी.पी.एम. के नौवें अधिवेशन (20 जून से 2 जुलाई 1972) की कार्यरिपोर्ट और राजनीतिक प्रस्ताव पढ़े हैं? यदि वे प्रस्ताव संख्या 32 तथा 46 ही पढ़ लेते तो शायद उनकी आंखें मुंदी न रहतीं, वे 'झूठ बराबर पाप' से बच जाते। सी.पी.एम. ने याह्या खां और चीन दोनों की भर्त्सना की थी, पार्लामेंट में पार्टी के प्रतिनिधियों ने बांग्लादेश के वीर जवानों को अस्त्रशस्त्र तथा हर प्रकार की सहायता देने के लिए सबसे आवाज़ उठायी थी। अपनी जानकारी के लिए जगदीश गुप्त 'स्टेट्समैन' (कलकत्ता), 'आनंद बाज़ार पत्रिका' तथा अन्य अख़बारों के उन दिनों प्रकाशित अंक उठाकर देख लें जिनमें सी.पी.एम. द्वारा बांग्लादेश के उदय के स्वागत में आयोजित डेढ़ लाख के जुलूस के चित्र व समाचार छपे थे। कौन नहीं जानता, नवोदित राष्ट्र को मान्यता देने के सवाल के बारे में सी.पी.एम. ने ही पहल की थी। पार्टी के सदस्यों ने शरणार्थियों के कैंपों में जाकर सहायताकार्य किया था, जबकि जगदीश गुप्त उस वक़्त नंगी औरतों के चित्र बना बना कर अपनी अस्मिता और वर्चस्व की क़वायद में लीन थे। सी.पी.एम. की नीति उन्हें अराष्ट्रीय लगी, तो क्या उस समय नंगे चित्र बनाकर वे सबसे बड़ा राष्ट्रीय कर्म कर रहे थे। वाह रे जगदीश गुप्त की अश्लील राष्ट्रीयता!

जगदीश गुप्त सार्त्र और अज्ञेय को एक ही तराजू पर तोलना चाहते हैं। सार्त्र समाज में अपनी भूमिका के चुनाव के बारे में असामाजिक कभी नहीं रहे। इसीलिए उन्होंने सदैव साम्राज्यवाद के खिलाफ़ संघर्ष किया जबकि अज्ञेय साम्राज्यवादियों के दासानुदास हैं, यह सब जानते हैं। *त्रिशंकु* से लेकर अब तक की उनकी गद्य रचनाएं इसका प्रमाण हैं। शोषकों के 'प्रहरी के द्वार के प्रतिहारी को / भीतर के देवता ने किया बार बार पालागन'। इन्हीं पालागनवादियों में गुप्तजी और भारती जैसे लोग भी हैं जिन्हें सर्वहारावर्ग की भावी सत्ता के अंकुश से तो भय लगता है किंतु आज की नरभक्षी साम्राज्यवादी पूंजीवादी व्यवस्था जैसे उनकी अम्मा है जिसका दूध पी पीकर वे मोटे होते जा रहे हैं। इन लोगों ने अपने कृतित्व द्वारा सिद्ध कर दिया है कि वे वर्गों के बीच चल रहे संघर्ष में किसके दोस्त हैं और किसके दुश्मन।

नपुंसक हिमविद्ध गिद्ध से आग के दरिया की आशा भी नहीं की जा सकती। एक ज़माना था जब ऐसे कलाकार राजाओं के दरबारों में रहा करते थे तथा उनकी चापलूसी किया करते थे। अब उन्हें पूंजीवादी शोषकवर्गों ने पाल रखा है। अतः उनकी खैर मनाते हुए वे अद्वैतवाद का कीर्तन करने निकल पड़े हैं। जब उन्होंने

देखा कि युवा लेखक 'बदलाव की बेचैनी' महसूस करने लगा है तथा आक्रामक होता जा रहा है तो उन्होंने उसे भी हिमविद्ध करके ठंडा कर देने का षड्यंत्र रचा है। आज के कवि की ज्वाला को वे उपेक्षित न कर पाये। उन्हीं के शब्दों में, 'वह परिवेश की धधकती ज्वालाओं से अपने को एकात्म होते हुए देखना चाहता है, मानो आज भी वह आग का आविष्कर्ता, रक्षक और नियामक हो। (पृ. 13) लेकिन यह आग शोषकों के पक्षधर रचनाकारों को सह्य नहीं है। वे तो चाहते हैं कि यह आग ठंडी पड़ जाये। अगर व्यवस्था का लक्षागृह जल गया और सही शोषणविहीन समाज के भवन का सूत्रपात हुआ तो इनका क्या बनेगा। उन्हें तो ठंडे ठंडे कवि, ठंडी ठंडी रचनाएं ही सुखकर लगती हैं। इस रूमनियत का सबूत एक वाक्य में मिल जायेगा। वे लिखते हैं : 'सहज मानवीय भावों से युक्त जैसी जीवट की कविताएं भवानी भाई ने लिखी हैं, वैसी मुक्तिबोध भी नहीं लिख सके, औरों की तो बात ही क्या है?' (पृ.17) अच्छा होता, वे दो एक उदाहरण भी पेश करते, जैसे, 'कुछ लिख के सो/ कुछ पढ़ के सो/ जिस जगह तू सोया है/ उस जगह से बढ़ के सो...' भवानी भाई की यह बात मान कर लिख चाहे मत, मगर प्यारे सो जरूर क्योंकि बकौल भारतीयों की कनुप्रिया के, 'जागरण स्वप्न है, छलना है, मिथ्या है'।

ये पैतरेवाजी वे सिर्फ इसलिए चल रहे हैं कि नयी पीढ़ी की सामर्थ्य उन्हें आतंकित कर रही है। वे जानते हैं कि 'आज की कविता को नया मोड़ देने वाली यही पीढ़ी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती' पृ. (11) उन्हें फिर लगी हुई है कि बदलाव की बेचैनी कहीं सही वैज्ञानिक क्रांतिकारी दिशा न ग्रहण कर ले, इसीलिए उनके भीतर इस पीढ़ी को भटकाव देने की बेचैनी है। आज के युग में वामपंथी शक्तियों को गाली देना, राजनीतिक परिदृश्य पर से अपने को अलग रखने के बहाने शोषतजन की पीठ में छुरा भोंकना, सिर्फ अपने को ही तीसमारखां समझना तथा पूरी दुनिया के वामपंथी जनों को भ्रष्ट और बेईमान समझना तथा इसी प्रकार के विचार अपनाने के लिए नयी पीढ़ी को उकसाना, उसे जान बूझकर भटकाव की ओर ले जाना ही ऐसे प्रतिक्रियावादी लेखकों का मकसद है। वे उसे अपनी अस्मिता तथा वर्चस्व बनाये रखने के पुराने घिसेपिटे उपदेश दे रहे हैं।

जब वे नये लेखक को राजनीतिक पार्टियों से दूर रहने की सलाह देते हैं तब उनके सामने सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टियां होती हैं। क्या पार्टियां आसमान से टपक पड़ती हैं? वे इसी समाज के वर्गों के हितसाधन के लिए और वर्गसंघर्ष की प्रक्रिया के रूप में पैदा होती हैं। शोषकशासक वर्ग अपनी अपनी राजनीतिक पार्टियां गठित करते हैं जैसे कांग्रेस पार्टी या जनसंघ वगैरह। क्रांतिकारी मजदूरवर्ग कम्युनिस्ट पार्टी गठित करता है, विश्व के जिन भी देशों में पूंजीवाद के हितसाधन के लिए पूंजीवादी

पार्टियां हैं, वहां वहां मजदूरवर्ग और शोषित समाज के हितों की रक्षा के लिए कम्युनिस्ट पार्टियां भी हैं। आज के वर्गविभाजित संसार में इसीलिए सारे देशों में शोषकों और शोषितों के वर्गहितों की नुमाइंदगी करने वाली राजनीतिक पार्टियां हैं। वे ऐतिहासिक सामाजिक जरूरत के तहत बनी हैं, प्रबुद्ध लेखकों को इस यथार्थ को समझना चाहिए और अपनी पक्षधरता भी समझना चाहिए कि 'किस ओर हो तुम?' मजदूरवर्ग की राजनीतिक संरचना को गालियां देने वाला जाने अनजाने पूंजीवादी-सामंती शोषण व्यवस्था का गुलाम ही हो सकता है। उसे यह नहीं मालूम कि ऐसे आदमी की अस्मिता का लोप तथा उसके वर्चस्व का विलय शोषकवर्ग में हो चुका होता है, वह उन्हीं वर्गों के विचारों का भोंपू होता है। जगदीश गुप्त की स्थिति साफ़ है। अपनी मिथ्याचेतनावश वे उन लेखकों को अपना दुश्मन मानते हैं जो मजदूरवर्ग के क्रांतिकारी वैज्ञानिक दर्शन यानी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की उस वैज्ञानिक समझ से लैस हैं जिससे विश्व के विशाल मेहनतकश शोषित समुदाय की मुक्ति का, सुख का, समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो सकता है, जिससे शोषित अवाम अपने देशों की ग़रीबी, भुखमरी, महंगाई, बेकारी तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण-उत्पीड़न समाप्त कर नये मानव समाज की रचना कर सकते हैं। यह अजीब बात है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद जैसी मानवीय वैज्ञानिक विचारधारा में विश्वास रखने वाली आज की संघर्षरत नयी पीढ़ी गुप्तजी की आंखों में खटकती है। उसे खंडित तथा पथभ्रष्ट करने के उनके हथकंडे वही हैं जो सी.आइ.ए. तथा अमरीकी साम्राज्यवाद के रहे हैं। वैज्ञानिक राजनीतिक व्यावहारिक समझ से नयी पीढ़ी को भटकाकर उसे दूर किसी गुमनाम खड्ड में धकेलने की इस साजिश को समझने में किसी भी समझदार लेखक को आज देर नहीं लगती। वामपंथी राजनैतिक पार्टियों तथा मार्क्सवाद के खिलाफ़ दुष्प्रचार करके आज की जुझारू पीढ़ी को विघटित करना, उसे उद्देश्यहीनता तथा अराजकता का शिकार बनाना ही इनका छिपा हुआ उद्देश्य है। ऐसे तत्वों का राक्षसी स्वार्थ साफ़ उभर आया है। इसी कारण वे नयी पीढ़ी को बरगला कर उसमें अराजकतावाद और दिशाहीनता के बीज पनपाना चाहते हैं, वे कहते हैं, 'युवा... अब किसी के नेतृत्व का मुहताज नहीं है, भले ही कोई अपने को उसका नेता माने रहे या घोषित किया करे। उसमें अपनी शक्ति की पहचान के साथ अपने अधिकारों के प्रति असाधारण सजगता उत्पन्न हो गयी है।' उन्हें यह नहीं मालूम है कि नेतृत्वहीनता से कभी बदलाव नहीं आया है। पूंजीवादी व्यवस्था को उन क्रांतिकारी शक्तियों ने उलटा है जो सर्वहारावर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं क्योंकि मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण खत्म करने की क्षमता उसी वर्ग में है जो उत्पादन के साधनों पर चंद अमीरों के स्वामित्व के बजाय उन पर पूरे समाज का स्वामित्व स्थापित करके नये समाज की रचना करने में सक्षम है। रूस, चीन आदि में हुई क्रांतियां इसका प्रमाण हैं। मूल

बदलाव यहां भी तभी आयेगा जब मजदूरकिसान उत्पादन के साधनों के मालिक हो जायेंगे। यह परिवर्तन सर्वहारावर्ग के नेतृत्व में ही संभव है। अतः नेतृत्व उसी वर्ग का होगा। युवा पीढ़ी या विद्यार्थी समूह को नेतृत्वहीनता के लिए उकसाना तथा क्रांति के अग्रगामी दस्ते से उसे काटने की कोशिश व्यवस्था पोषकों की छलपूर्ण चाल रही है। हिंदी की युवापीढ़ी आज किसी भावुकता की शिकार नहीं है जो गुप्तजी के मंतव्य कि 'चढ़ जा बेटा सूली पर' के अनुसार अंधी होकर आत्मघात करले। गुप्तजी के बहकावे का उद्देश्य उसे अपने अपने अजनबी बनाना है। वे जानते हैं कि युवा पीढ़ी यदि मेहनतकश क्रांतिकारी दस्ते से मिलकर कार्य करना शुरू कर देगी तो आज की महाजनी व्यवस्था ध्वस्त हो जायेगी। वे आज के युवा को उकसा रहे हैं कि वह नेतृत्वहीन रह कर अपनी आग में भस्म हो जाये। उसे विघटित करने की यह चाल सधे सधाये ढंग से चली जा रही है। बुद्धिजीवी तथा विद्यार्थी समुदाय को भड़काया जा रहा है कि वे भूलभूत बदलाव ला सकते हैं, वाम पार्टियां तो भ्रष्ट हैं, सो उनसे दूर रहो। इतिहास गवाह है कि इंडोनेशिया, फ्रांस, थाइलैंड आदि में भी युवा पीढ़ी को इसी तरह अमेरिका के पिट्टुओं ने भड़काया था, मगर अराजकतावाद से कोई व्यवस्था परिवर्तन नहीं हो सका। आज के दौर में मजदूर किसानों के नेतृत्व के बिना आधारभूत क्रांति नहीं हो सकती।

अतः स्पष्ट है कि जसे आदमी आज के शोषित समाज के बुद्धिजीवी को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की वैज्ञानिक समझ से दूर हटाकर अद्वैतवाद की ओर मोड़ना चाहता हो, उसके दिवालियापन को क्या कहा जाये। नयी पीढ़ी इन ढकोसलों को पीछे छोड़कर काफ़ी आगे बढ़ गयी है, अतः जगदीश गुप्त को चिंता है कि नयी पीढ़ी सही अग्रगामी रास्ते पर क्यों चल रही है। उसे अद्वैतवाद में उलझाने की बदनीयत से वे ढोंगी साधुओं जैसा उपदेश बघारते घूम रहे हैं। वे लिखते हैं : 'उसमें आत्मालोचन या गंभीर चिंतन-मनन की कुछ कमी दिखायी देती है।' अद्वैतवाद का फूटा चश्मा लगाकर देखने से नयी पीढ़ी में कमियां ही कमियां नज़र आयेंगी। भाववादी बूढ़े खूसट हमेशा यही रोना रोते रहे हैं, मगर नयी पीढ़ी से उनकी असलियत छुपी नहीं है। वह उनसे पूछ सकती है -- क्या युग्म में खींची गयी नंगी औरतों की रेखिल तसवीरें अद्वैतवादी चिंतन मनन का परिणाम हैं? क्या त्रयी-1 के पृ. 46 पर तथा पृ.78 पर उनके करों से रचे नंगे चित्र उनके विलासी तथा सामंती 'नंपुसक भोग शिरा जालों में उलझे' मानसिक स्तर के प्रमाण नहीं हैं। अगर यही सब आत्मालोचन और गंभीर चिंतन है तो वह उनके पूंजीपति आकाओं की ही मुबारक हो आज की संघर्षरत नयी पीढ़ी उनकी मुखापेक्षी नहीं है, उसे तेरी बिल्कुल ज़रूरत नहीं।

उत्तरार्द्ध-7 में प्रकाशित

सौंदर्य-चेतना की रचना-प्रक्रिया

चंचल चौहान

साहित्यिक लोगों को यह सत्य स्वीकार करना होगा कि साहित्य की कोई कृति एक संकुचित शब्द-संरचना नहीं होती, बल्कि वह विभिन्न सामाजिक सत्यों की शाब्दिक अभिव्यक्ति होती है।

-जीन बैल

सौंदर्य चेतना मनुष्य की समग्र चेतना का ही एक अंग है और चेतना, एंगेल्स के शब्दों में, 'सदैव सचेतन अस्तित्व' होती है। यह सचेतन अस्तित्व हवा में नहीं होता, बल्कि मनुष्यों के समाज में होता है। अतः यह अस्तित्व सामाजिक होता है। समाज वर्ग-विभक्त होता है तो चेतना के खंड भी वर्गीय होते हैं। इस प्रकार सौंदर्य-चेतना का भी वर्गीय चरित्र होता है। यही कारण है कि सामंती युग में सौंदर्य की जो धारणा रही थी, वह पूंजीवादी समाज में नहीं रही। भवनों की जो वनवट उस समय सुंदर मानी जाती थी, उसे आज कोई नहीं अपनाता। यह तथ्य सौंदर्य चेतना के परिवर्तन का द्योतक है। यही बात काव्य आदि पर भी लागू होती है। आज दोहा चौपाई में शायद ही कोई कविता लिखता हो क्योंकि शिल्प संबंधी सौंदर्य चेतना और विकसित हो गयी है।

चेतना की रचना कैसे हुई? मनुष्य ने इस प्रश्न के उत्तर को खोजने की कोशिश अपने विकास के साथ प्रारंभिक युगों में ही की थी। जीवन और जगत के बारे में पृथ्वी के विभिन्न हिस्सों में दो प्रकार की दृष्टियों से विचार किया गया है--एक दृष्टि को भाववादी और दूसरी को भौतिकवादी कहा जाता है। ग्रीक दर्शन में थैल्स से लेकर एनेक्सागोरस तक स्थूल जगत की रचना की पहेली पर काफी मत्थापच्ची हुई। चेतन सत्ता ('नाउस') की कल्पना के बाद भाव को रचना का आधार मान लिया गया। सुकरात और प्लेटो ने क्रमशः अवधारणा और भाव को ही सत्य माना तथा चेतना को उसी भावसत्ता का स्वरूप माना। तब से पाश्चात्य दर्शन में भाववाद और भौतिकवाद का संघर्ष चलता रहा जिसका वैज्ञानिक समाधान मार्क्सवाद के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में हुआ। पाश्चात्य दर्शनों की तरह भारतीय वाङ्मय में भी दो परस्परविरोधी जीवन-दृष्टियां रही आयी हैं। एक दृष्टि भाव या ब्रह्म को प्रमुख

सत्ता मानती रही और दूसरी पदार्थ और प्रकृति को। ऋग्वेद (मं.10, 121) में सृष्टि की रचना 'पहले से व्याप्त पदार्थ'¹ से मानी गयी जिसे 'हिरण्यगर्भ' कहा गया :

हिरण्यगर्भः सं अवर्त्तत अग्रे भूतस्य जातः पतिः एकः आसीत्
संः दाधार पृथिवीं द्यां उत इमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

उसी ऋग्वेद में ही किसी दूसरे ऋषि ने सृष्टि के रचनाकार को 'सहस्रऽशीर्षा पुरुषः' की भी संज्ञा दी। जहां वैदिक काल में मुख्य पहेली जगत या पदार्थ की रचना थी, वहां उपनिषद् काल से चेतना की रचना पर भी विचार शुरू हुआ। चेतना की रचना के बारे में वही दो विश्वदृष्टियां हमारे यहां भी मिलती हैं जो पश्चिम में समाजविकास के साथ अस्तित्व में आयीं। भाववादी लोग चेतना को ब्रह्म की दी हुई सत्ता मानते हैं, भौतिकवादी उसे पदार्थ की सत्ता मानते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में मन को 'अन्नमय' कहकर उसका संबंध पदार्थ से जोड़ा गया है :

अन्नमयं हि सौम्य मनः

इस सत्य को प्रयोग द्वारा भी सिद्ध किया गया। श्वेतकेतु को उसके गुरु ने पंद्रह दिन खाना नहीं दिया तो वह सारा वेद-ज्ञान भूल गया और सोलहवें दिन जब उसे खाना मिला तो उसमें पुनः चेतना का संचार हुआ। दूसरी ओर एतरेय उपनिषद् में, ग्रीक दार्शनिक एनेक्सागोरस की तरह, एक सर्वव्यापी चेतना को सृष्टि का नियामक तत्व माना गया जिसे, 'प्रज्ञा' नाम दिया गया। यह उस समय की भाववादी चिंतनधारा थी।

उपनिषद्काल के बाद के समय में भी ये दो दृष्टिकोण आपस में टकराते चले आये हैं। सांख्य दर्शन में चेतना और पदार्थ के परस्पर संबंध को समझने की कोशिश की गयी। यह माना गया कि चेतना और पदार्थ स्वतंत्र हैं, न चेतना से पदार्थ बना है और न पदार्थ से चेतना। यह भाववाद का मिश्रण था। सांख्य कारिका में 'मनस' के बारे में काफ़ी हद तक भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। दूसरी ओर 'न्याय दर्शन' में भी चेतना को शरीरजनित नहीं माना गया, बल्कि उसे सर्वस्वतंत्र सत्ता प्रदान की गयी। वैशेषिकों ने इस स्वतंत्र सत्ता का निषेध किया। कणाद ने चेतना की रचना के बारे में काफ़ी हद तक भौतिकवादी नज़रिया अपनाया। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने पदार्थ की सत्ता को प्रमुख माना और चेतना की सत्ता को गौण। मीमांसा दर्शन के चिंतक कुमारिल और प्रभाकर के बीच भी भाववाद और भौतिकवाद का संघर्ष रहा। पूर्व मीमांसाकारों ने 'मानसऽहंप्रत्यय' के सिद्धांत द्वारा चेतना के व्यक्तिपरक और वस्तुपरक यथार्थ को समझने की काफ़ी कोशिश की और भाववाद से संघर्ष किया। मगर इस दृष्टिकोण को अद्वैतवादी उत्तर मीमांसाकारों जैसे बादरायण

आदि का समर्थन नहीं मिला, अतः भाववाद की खूब प्रतिष्ठा हुई। बौद्ध दर्शन ने, अपने अनेक अंतर्विरोधों के बावजूद, काफी हद तक यथार्थवादी नज़रिया अपनाया। इससे संघर्ष करते हुए अद्वैतवादी भाववाद की प्रतिष्ठा में संलग्न हुए। इस भाववाद की सबसे बड़ी वकालत शंकर से लेकर रामानुज, माधव, भास्कर और निंबार्क आदि ने की। इन दार्शनिकों के लिए भाव ही एक मात्र सत्य था। जीवन-जगत मिथ्या करार दे दिया गया। दूसरी और हीनयान संप्रदाय के वैभाषिक चिंतक चेतना के बारे में वस्तुवादी नज़रिया अपना रहे थे। जैन दार्शनिक चेतना की उत्पत्ति न शरीर से मानते थे और न मस्तिष्क से। वे उसकी स्वतंत्र सत्ता में विश्वास करते थे।

माक्सवाद को छोड़कर विश्व के अन्य सभी दर्शन आज भी चेतना को द्वंद्वात्मक प्रक्रिया न मानकर या तो सिर्फ विषयीगत मानते हैं या विषयगत। अब तक हुई विज्ञान की खोजों ने यह बात काफी हद तक हमारे सामने अकाट्य सत्य के रूप में सिद्ध कर दी है कि चेतना भौतिक पदार्थों का ही जटिल पुंज है। चेतना को किसी पारलौकिक सत्ता जैसे आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर द्वारा नियमित परिचालित मानना आज एक अंधविश्वास के अलावा और कुछ नहीं कहा जायेगा।

चेतना की रचना-प्रक्रिया को लेकर काफी अनुसंधान हो चुके हैं। रूस के प्रसिद्ध मनोशरीरशास्त्री सेचेनोव ने चेतना की रचना-प्रक्रिया पर काफी वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया था। सेचेनोव के काम को प्रयोगों के आधार पर पावलोव ने पुष्ट किया और 'कंडीशंड रिफ्लेक्स' के सिद्धांत द्वारा चेतना की रचना- प्रक्रिया की गुत्थी सुलझा दी। एस. कोशतोयात्स ने पावलोव की संकलित रचनाओं की भूमिका में लिखा :

(सेचेनोव और पावलोव) के अथक परिश्रम ने रूस के दार्शनिकों और प्रकृतिवादियों को सच्चे भौतिकवादी दर्शन का यह पाठ पढ़ा दिया कि भौतिक शरीर और चेतना के बीच द्वंद्वात्मक एकता होती है। इस अनुसंधान ने, विज्ञान के क्षेत्र में एक ख़ास चरण में प्रवेश किया।

सोवियत रूस में हुए अनुसंधानों से मनुष्य मस्तिष्क में रिफ्लेक्स बनने की प्रक्रिया को स्क्रीन पर भी देख लिया गया। अतः वह वैज्ञानिक सत्य जिसे माक्सवाद के जन्मदाताओं ने समझ लिया था आज लैबोरेटरी के अनुसंधानों द्वारा बार-बार प्रमाणित हो रहा है। एंगेल्स ने कहा था :

यदि यह सवाल उठाया जाये कि विचार और चेतना क्या हैं और कहां से आते हैं, तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि वे मनुष्य के मस्तिष्क की उपज हैं और मनुष्य खुद प्रकृति की ऐसी उपज है जो अपने परिवेश के साथ-साथ उसी परिवेश में विकसित हुआ है।

उन्होंने एक अन्य स्थल पर लिखा कि 'भौतिक इंद्रियगम्य संसार जिसके हम सब भाग हैं एक सचाई है। हमारी चेतना और सोच समझ यद्यपि इंद्रियबोध से परे लगती है, मगर है वह भौतिक, शारीरिक अंग यानी मस्तिष्क की ही उपज। जगत चेतन से नहीं जन्मा है बल्कि चेतन स्वयं प्रकृति का सर्वोत्तम उत्पादन है। मार्क्स ने भी कहा कि 'भाव मानव-मस्तिष्क में प्रतिबिंबित भौतिक जगत ही होता है और वही विचार में बदल जाता है'। लेनिन ने इसी को पुष्ट करते हुए 'प्रतिबिंबन सिद्धांत' द्वारा चेतना की रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला। उन्होंने लिखा : 'हमारी चेतना बाहरी जगत की बिंब है और यह बात साफ़ है कि बिंब अपने वस्तुगत आधार के बनाने वाले से अलग स्वतंत्र नहीं होता है।'

रूसी मनोशरीरशास्त्री पावलोव ने चेतना की रचना-प्रक्रिया को वैज्ञानिक रूप में द्वंदात्मक तरीके से परखा और व्याख्यायित किया। उनके अनुसार बाहरी जगत की वस्तु और मस्तिष्क के कोर्टेक्स के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। तब उत्तेजना और वर्जना के बीच एंटीथीसिस का संघर्ष होता है और इस प्रक्रिया द्वारा अस्थायी कनेक्शन बनते हैं जिन्हें उन्होंने 'कंडीशंड रिफ्लेक्स' का नाम दिया। मस्तिष्क के विकास में कुछ स्थायी कनेक्शन भी बने चले आते हैं जिन्हें अन-कंडीशंड रिफ्लेक्स कहा जाता है, यानी ये कनेक्शन अनुवंशी होते हैं। इन्हें मनुष्य ने पशु से मनुष्य में रूपांतर के दौरान विकसित किया।

चेतना चूँकि सक्रिय मस्तिष्क की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है, अतः उसकी रचना की शुरुआत कंडीशंड रिफ्लेक्सों से होती है। मॉरिस कार्नफ़ोर्थ का कहना है की 'जब कंडीशंड रिफ्लेक्स बनने की प्रक्रिया में उत्तेजना जो पशु में भी होती है संकेतों ('सिगनल्स') का काम करने लगती है तो जीव इन संकेतों को पहचानने लगता है और अपने व्यवहार को उन्हीं के मुताबिक ढाल लेता है, उस समय नाड़ियों के जाल में एक नया गुण पैदा होता है जिसे चेतना कहा जाता है। इस चेतना का पहला चरण इंद्रिय-संवेदन ('सेन्सेशन') का होता है जिससे संकेत प्रणाली की रचना होती है। संकेत प्रणाली के बार-बार घटित होने से अनुभव पैदा होता है। इंद्रिय-संवेदन, मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ, 'बोध'(परसेप्शन) में बदल जाता है। अपनी विकास यात्रा में मनुष्य की चेतना में पशु मस्तिष्क की संकेत-प्रणाली के साथ एक और संकेत- प्रणाली विकसित हो गयी जिससे भाषा का उद्गम हुआ। पावलोव ने कहा है कि 'विकसित पशु जब मनुष्य बना तो उसके उच्च नाड़ी तंत्र में एक बहुत ही महत्वपूर्ण बढ़ोतरी हुई। अपने वाकूतंत्र द्वारा उसने पहली संकेत-प्रणाली के साथ-साथ शब्द-संकेत प्रणाली को जन्म दिया।' अतः मनुष्य का बोलना दूसरी संकेत प्रणाली बना। इसी प्रणाली के आधार पर मनुष्य मस्तिष्क में

अमूर्त भाव, विचार, कल्पना और चेतना के विभिन्न स्तरों की क्रियाशील प्रणालियां विकसित हुईं।

‘भाषा’ मनुष्य की ‘दूसरी संकेत प्रणाली’ है जिसकी आवश्यकता मानव समाज में पड़ती ही है। अतः समाज ने भाषा को व्यवस्थित किया। आवश्यकता और अवसर के अनुसार भाषा ने विकास किया और इसी प्रक्रिया में सामाजिक चेतना का निर्माण हुआ। समुदाय में रहने वाले मनुष्यों में सामुदायिक भावना का जन्म हुआ। जब समाज वर्ग-विभक्त हुआ और निजी संपत्ति की अवधारणा समाज में आयी तो ‘मैं’-भावना का जन्म हुआ। मानव-समाज में सौंदर्य-चेतना का संबंध भी इसी विक्रम-क्रम से है। अपने अर्द्ध-विकसित स्वरूप में मनुष्य ने सौंदर्य को उत वस्तुओं व क्रियाओं से जोड़ा जो उसको उपयोगी लगीं। जिनसे उसे क्षति पहुंची उनको असुंदर माना। रूप, रस, गंध, स्वर, स्पर्श आदि से भी यह विभाजन प्रारंभ में इन्ही आधारों पर रहा होगा। बाद में मनुष्य ने सौंदर्य को परिष्कृत अभिरुचि बना दिया। वर्ग-विभक्त समाज में सौंदर्य-चेतना का नियंता प्रभु-वर्ग हो गया। अतः सौंदर्य को व्यक्तिपरक कहा गया। सौंदर्य को ‘प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता’ के रूप में परिभाषित किया गया। ऐतिहासिक विकासक्रम में ऐसे लोग भी हुए जिन्होंने सौंदर्य को वस्तुपरक बताया। यह द्वंद्व मूलतः भाववाद और वस्तुवाद का द्वंद्व था। एक ने कहा कि सौंदर्य व्यक्ति की नजर में है, दूसरे ने कहा कि वह वस्तु में है। ये दो अतिवाद थे। मार्क्सवाद ने बताया कि सौंदर्य वस्तु और व्यक्ति की द्वंद्वत्मकता का परिणाम है। न व्यक्ति के बिना सौंदर्य की अवधारणा हो सकती है और न सुंदर वस्तु के बिना। दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही सौंदर्य की अवधारणा बनती है। किंतु सुंदर वस्तु चेतना से अलग अस्तित्व रखती है। वही सौंदर्य का भौतिक आधार है।

वस्तु और व्यक्ति के सचेतन अस्तित्व के साथ ही सामाजिक अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। सौंदर्य चेतना के विकास में मानव-समाज को अनदेखा करने पर भाववादी निर्णय ही दिये जा सकते हैं। व्यक्ति की सौंदर्य चेतना किसी न किसी वर्ग की सौंदर्य-चेतना होती है। पिछले दिनों सौंदर्याभिरुचि पर लिखे शोधपूर्ण लेख में रूसी सौंदर्यशास्त्री वी. स्केतरश्चिकोव ने कहा है कि ‘ऐसा कोई व्यक्तिगत सौंदर्यात्मक मूल्यांकन न होता है और न हो सकता है जो तत्त्वतः किसी न किसी सामाजिक समूह के विचार को प्रतिबिंबित न करता हो और न कोई सामाजिक सौंदर्यात्मक मूल्यांकन व्यक्ति-सौंदर्याभिरुचि को अनदेखा करके हो सकता है’।

स्पष्ट है कि साहित्य में व्यक्त सौंदर्य का भी सामाजिक पक्ष होता है। वर्ग-समाज में सौंदर्याभिरुचि वर्गीय होती है। ज्यादातर शासक वर्ग की सौंदर्याभिरुचि शोषित वर्गों पर हावी रहती है। साहित्य में भी इसे बड़ी आसानी से देखा जा सकता है। यद्यपि इन अभिरुचियों का टकराव भी होता है, तथापि आधार से कट पाना संभव

नहीं होता। मसलन, तुलसी की सौंदर्याभिरुचि अपनी पूर्णता में उस समय के सामंती वर्ग की सौंदर्याभिरुचि है। उन्होंने उसे परिष्कृत करने व आदर्शकृत करने की कोशिश की है। वे सुंदरतम के पक्षधर हैं और वह सुंदरतम उनकी सामाजिक सीमाओं में एक आदर्श राजा ही हो सकता था। कबीर की सौंदर्याभिरुचि में भी सामंती अंश है किंतु उसमें सामान्य जन-जीवन की सौंदर्य चेतना ज़्यादा है। अतः आभिजात नखशिख वर्णन नहीं है। वहां 'सोहै नवल तनु सुंदर सारी/जगत जननि अतुलित छवि भारी' नहीं है बल्कि 'चदरिया झीनी-झीनी' है। उनका राम सामंतपुत्र नहीं है। सामंती व्यवस्था में लघु हस्तकलाकार की इस सौंदर्य चेतना में प्रगतिशील वर्गों की सौंदर्य-चेतना का मिश्रण है।

अतः सौंदर्य-चेतना की रचना-प्रक्रिया में सामाजिक ऐतिहासिक वर्गों की भूमिका काफ़ी महत्वपूर्ण है। अब तक की भाववादी रूपवादी समीक्षा ने सौंदर्य के इस वर्गाधार की सदा अवहेलना की है। रचनाओं को सिर्फ़ व्यक्ति-सौंदर्य-चेतना से परिचालित माना जाता रहा है। इसीलिए कला की रचना-प्रक्रिया पर भी सही वैज्ञानिक ढंग से भाववादी रूपवादी समीक्षा प्रणालियां विचार नहीं कर सकीं। जिस प्रकार प्राचीन भाववादी विचारक सौंदर्य को आत्मगत मानते थे उसी प्रकार साहित्य में भी 'रसात्मक वाक्य' को सौंदर्य का आधार माना गया। रूसी सौंदर्यशास्त्री ए. ज़िस ने कहा कि 'भाववादी सौंदर्यशास्त्र में सुंदर वही है जो मनुष्य की चेतना में निहित है और जिसका कोई वस्तुपरक आधार नहीं है'। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र इस धारणा को एकांगी बताता है। बिना सुंदर वस्तु के सौंदर्य की कल्पना भी संभव नहीं। उसी प्रकार साहित्य में भी सौंदर्य वस्तुपरक होता है, पाठक या सामाजिक मनुष्य उसे मस्तिष्क की आंख से देखता है। मस्तिष्क की आंख सामाजिक रिफ्लेक्सों से नियमित होती है। अतः व्यक्ति-वस्तु की अंतःक्रिया होती है। यह अंतःक्रिया ऐतिहासिक प्रक्रिया का भी हिस्सा होती है। यह बात व्यक्तिबद्ध भाववादियों को शायद समझ में न आये। उनसे अगर यह पूछा जाये कि सामंती युग में साहित्य में नारी का जो नखशिख वर्णन हुआ जिसमें उसकी व्यक्तिसत्ता का नकार है तो इसका कारण वे व्यक्ति-मनोविज्ञान में ढूँढ़ेंगे मानो व्यक्ति-मनोविज्ञान आसमान से आता है और मानो उसका सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया से संबंध ही नहीं होता।

पश्चिम में सौंदर्य की अवधारणा पर भी प्लेटो ने विचार किया। उन्होंने सुंदर वस्तु और सौंदर्य की अवधारणा को अलग-अलग माना। सुंदर वस्तु का ज्ञान सच्चा ज्ञान न होकर मात्र एक मत ('उपीनियन') होता है और सौंदर्य की अवधारणा का ज्ञान दार्शनिक ज्ञान होता है। सुंदर वस्तुएं बहुत हो सकती हैं किंतु सौंदर्य की अवधारणा एक होती है। अतः वही सत्य है, वस्तुएं मात्र उसका एक आंशिक प्रतिविवन हैं। भाववादी दर्शन की इस शुरुआत में अरस्तू ने वस्तुवादी दर्शन द्वारा

सौंदर्य को व्याख्यायित किया और उसे वस्तु की समानुपातिकता में निहित बताया। उन्होंने कहा कि 'सौंदर्य आकार और व्यवस्थित परिमाण की देन है इसीलिए (1) अति सूक्ष्म जीव में वह नहीं होता क्योंकि हमारी दृष्टि तुरंत उसे अलगा नहीं पाती (2) अति विशाल जीव में भी वह नहीं होता, मसलन 1,000 मील लंबे जीव में नहीं होगा क्योंकि हम उसे संपूर्णता में नहीं देख सकते।' ऊपर से देखने में लगता है कि अरस्तू का यह औचित्य सिद्धांत सिर्फ वस्तु के आकार प्रकार तक ही सीमित है मगर ऐसा नहीं है। अरस्तू मनुष्य या प्रेक्षक को भी नहीं भूलते। आखिर ग्रीक समाज अपने दासयुग का प्रजातंत्र निर्मित कर चुका था और यह स्वाभाविक ही था कि उस समय की ग्रीक कला और सौंदर्यबोध के बीच मनुष्य की भूमिका को पहचाना जाये। इसीलिए अरस्तू इस यथार्थ तक पहुंच रहे थे कि सौंदर्य व्यक्ति और वस्तु के अंतःसंबंध और अंतःक्रिया में है और जिसमें बल वस्तु पर अधिक है। यह सौंदर्य के वस्तुगत नियमों की तलाश की पहली कोशिश थी। इस अवधारणा ने न सिर्फ कलाकारों को, बल्कि कवियों व नाटककारों को भी प्रभावित किया।

भारतीय काव्यशास्त्र में क्षेमेंद्र ने भी औचित्य-विचार-चर्चा को सौंदर्यशास्त्रीय मान्यताओं में प्रमुख स्थान दिया। क्षेमेंद्र का औचित्य से तात्पर्य था कृति का जीवन-जगत के सदृश होना :

उचितं प्राहुराचार्यः सदृश किल यस्य यत् ।

उचितस्य यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

अरस्तू का 'अनुकरण सिद्धांत' भी जीवन-जगत के सादृश्य पर आधारित था। इसीलिए वे दो अतिवादों के बजाय 'स्वर्णिम मध्यमार्ग' के पक्षधर थे और सौंदर्य-विषयक नियमों में उनका वही रुझान था।

वर्गविभक्त समाजों में हर जगह, सौंदर्यशास्त्री वर्ग-विश्वदृष्टियों के आधार पर सौंदर्य के प्रतिमान, जाने-अनजाने, गढ़त रहे। आज भी दो वर्गदृष्टियों का संघर्ष चल रहा है। एक ओर भाववादी-व्यक्तिवादी वर्ग विचारधाराएं अनेक शक्तों में सौंदर्य की अवधारणा को एकांगी रूप में व्याख्यायित कर रहीं हैं और दूसरी ओर सर्वाधिक विकसित वैज्ञानिक विश्वदृष्टि, मार्क्सवाद-लेनिनवाद, के अनुसार जीवन-जगत के हर क्षेत्र को देखा परखा जा रहा है जिसके तहत सौंदर्य की वैज्ञानिक व्याख्या भी विश्वस्तर पर मानव-समाज के सर्वाधिक विकसित व प्रबुद्ध वर्गों द्वारा हो रही है। शीघ्रक वर्गों की मिथ्या चेतना के अधीन अभी भी भाववाद का प्रचार प्रसार हो रहा है। उनके लिए अभी भी 'रूप कुरूप न कोय/जाकी रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होय' या फिर वे 'शुद्ध सौंदर्य' के उपासक हैं।

रूसी सौंदर्यशास्त्री ए. ज़िस ने स्पष्ट कहा है कि 'मनुष्य के सौंदर्यविषयक विचार उसके समूचे सामाजिक जीवन, उसकी जीवन प्रकृति, ऐतिहासिक परिस्थितियों

समाज की वर्ग-संरचना व राष्ट्रीय परंपराओं आदि से निर्मित होते हैं।' सौंदर्य के विचार हर युग की कलाओं व साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं। आदिम युग की कला-कृतियों का वैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन करें तो सौंदर्य के ऐतिहासिक-सामाजिक आधार से अंतःसंबंध को देखने में मदद मिल सकती है। इसी प्रकार से साहित्य की कृतियों में अभिव्यक्त सौंदर्यभिरुचियों का भी ऐतिहासिक सामाजिक आधार रहा है भले ही वह सीधे सीधे अभिव्यक्त न हुआ हो। सामंती सौंदर्याभिरुचि से परिचालित साहित्य उन सभी शक्तियों को असुंदर व गहिल बिंबों द्वारा चित्रित करेगा जिनसे उसका विरोध है। बिहारी के लिए इत्र की सराहना न करने वाला गंवार ही होगा। सामंती संबंधों को व्याख्यायित करने वाला साहित्य भले ही जायसी द्वारा लिखा गया हो, उसमें शाहेवक्त सुंदर का प्रतिमान होगा। अपने युग के शोषक-शासक वर्गों से संघर्ष करती हुई सौंदर्याभिरुचि भी रहती आयी है। कबीर के लिए 'माया महाठगिनी' है, उनके लिए तुलसी की तरह, 'सापत ताड़त, परुष कहंता/ विप्र पूज्य अस गावहिं संता' जैसी मान्यताओं में सौंदर्य नहीं है। अत वे इस सौंदर्य मूल्य पर प्रहार करते हैं। उनके अनुसार यदि विप्र इतना श्रेष्ठ है तो वह 'अन्य मार्ग' से क्यों नहीं पैदा हुआ। कबीर की सौंदर्याभिरुचि पर समाज के एक वर्ग को एतराज हो सकता है, दूसरे वर्ग को उनकी रचना में व्यक्त यथार्थ सुंदर लगता है।

साहित्य में इसी तरह वर्गीय सौंदर्याभिरुचि काम करती है। यह सौंदर्याभिरुचि विषयों के चुनाव से लेकर बिंब, प्रतीक व कथनभंगिमाओं तक के चुनाव में तक में देखी जा सकती है। यह चुनाव 'फ़ीरोज़ी होंठों' का हो या 'कनुप्रिया' का, उसमें वर्ग सौंदर्याभिरुचि प्रतिबिंबित होगी ही। नायिका में अपने हासग्रस्त पूंजीवादी-सामंती सौंदर्यबोध का समावेश कर धर्मवीर भारती ऐसे कथनों का चुनाव करते हैं :

तुम्हारे चंदन कसाब के बिना मेरी देहलता के
बड़े बड़े गुलाब धीरे-धीरे टीस रहे हैं।
और दर्द उस लिपि के अर्थ खोल रहा है।

दूसरी और मुक्तिबोध की एक कविता का वाचक भी 'दर्द' महसूस करता है मगर वहां सौंदर्यबोध 'चंदन कसाब' का नहीं, यथार्थों के कसाब का है :

मुझमें बिजली की घूम गयी थरथरी
उद्दाम ज्ञान-संवेदन की फुरफुरी / हृदय में जगी
तन मन में कोई जादू की सी आग लगी
मस्तिष्क तंतुओं में प्रदीप्त / वेदना यथार्थों की जागी

भारती की ही तरह अज्ञेय के सौंदर्यबोध में भी सामंती अवशेष रूढ़ि बनकर प्रकट हुए हैं। उन्हें आधुनिक 'राजा ने आसन दिया' ही है, अतः उस सौंदर्याभिरुचि का प्रसार प्रचार करके मालिकों से उद्धार भी तो होना है! सामंती सौंदर्याभिरुचि ही उन्हें 'आंगन के पार द्वार' ले गयी, क्योंकि उनका पालागनवादी वाचक जानता है:

कौन द्वारी
कौन अगारी, न जाने,
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार बार पालागन

दूसरी ओर, मुक्तिबोध का वाचक किसी महल के 'द्वार के प्रतिहारी को' पालागन करके 'आसन' प्राप्त नहीं करना चाहता बल्कि उनके जनोन्मुख सौंदर्यबोध की वजह से उनका वाचक कहता है '

धुंधलके में खोये इस
रास्ते पर आते जाते दिखते हैं
लठधारी बूढ़े से पटेल बाबा
ऊंचे से किसान दादा
वे दाढ़ीधारी देहाती मुसलमान चाचा और
बोझा उठाये हुए
मांएं, बहनें, बेटियां...
सबको ही सलाम करने की इच्छा होती है
सबको ही राम-राम करने को जी चाहता है जी

वर्गीय सौंदर्याभिरुचि इस प्रकार साहित्य में अभिव्यक्त होती ही है। जो कवि रचनाकार वर्ग-भेद को समझकर शोषित जन समूह के विकसनशील पक्ष के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं वे धीरे-धीरे पतनशील सांस्कृतिक सौंदर्याभिरुचि से भी मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं और जो अज्ञान का गुहावास कर लेते हैं वे जाने अनजाने शोषक वर्गों की पतनशील सौंदर्याभिरुचि का शिकार हो जाते हैं और इस प्रकार विकासशील नये मानव की सौंदर्य-चेतना के विकास को अवरुद्ध करते हैं।

जनवाद की अवधारणा

चंचल चौहान

जनवाद शब्द का प्रयोग हिंदी साहित्य में इतने अमूर्त ढंग से और इतनी तरह से किया जाता है कि उसका कोई ठोस अर्थ नहीं निकल पाता। जिस तरह पूंजीवादी-सामंती राजनीतिज्ञ 'जनता' शब्द का प्रयोग नारे के बतौर अपने भाषण में करते हैं और उसके नाम पर 'पार्टी' भी बनाते हैं, उसी तरह हमारे साहित्य में 'जन' और उससे जुड़े 'वाद' का इस्तेमाल भी काफ़ी ढीलेढाले ढंग से किया जाता है। ज़्यादातर लोग 'जनवाद' को 'मार्क्सवाद' का पर्याय और 'जनवादियों' को 'मार्क्सवादी' मानते हैं। यह धारणा सही नहीं है। यह तो ठीक है कि एक मार्क्सवादी एक अच्छा 'जनवादी' यानी 'डेमोक्रेट' हो सकता है या उसे होना चाहिए, लेकिन ऐसे बहुत से तबके और व्यक्ति जो मार्क्सवाद के विज्ञान से लैस नहीं हैं, समाज के रूपांतरण में 'डेमोक्रेटिक' भूमिका निभाते हैं, इसलिए 'जनवाद' एक व्यापक अवधारणा है जिसके दायरे में समाज का बहुसंख्यक हिस्सा आता है। आज के उत्तरआधुनिक समय में तो इसके बहुलार्थक स्वरूप को ऐसा ही बनाये रखने की वकालत की जा सकती है, मगर मेरे विचार से समाज की सारी विचारप्रणालियों या हलचलों की व्याख्या की ही तरह 'जनवाद' को भी उसके वर्गीय विश्लेषण से और सामाजिक विकास की मंज़िल के तहत ही समझा जाना चाहिए

हर समाज के विकास की कुछ मंज़िलें होती हैं जिनसे हो कर वह गुज़रता है। उस समाज के विकास की मंज़िल को उस में विकसित उत्पादन के साधनों और उत्पादन के रिश्तों से जाना जा सकता है। अगर किसी समाज में उत्पादन के साधन आदिम अवस्था में हैं तो उसे हम आदिम समाज कहेंगे। आदिम उत्पादन के साधनों के विकास से आगे जो समाज विकसित हुए तो दास व्यवस्था की मंज़िल में प्रवेश कर गये जिसमें दास और स्वामी अस्तित्व में आये और समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। दास व्यवस्था से आगे उत्पादन के साधनों के विकास के साथ नये उत्पादन रिश्ते बने, और समाज सामंती अवस्था में दाखिल हुए जिसमें सामंत प्रभुवर्ग के रूप में और भूदास शोषितवर्ग के रूप में वजूद में रहे। सामंती व्यवस्था के गर्भ में जब उत्पादन के साधन और अधिक विकसित हुए और आधुनिक मशीनों

का आविष्कार हुआ और आधुनिक ज्ञानविज्ञान ने उन्नति की तो पूंजीवादी समाज व्यवस्था ने सामंती समाज व्यवस्था को खत्म करके आधुनिक पूंजीवादी समाज की रचना की और उसमें पूंजीपतिवर्ग शासकवर्ग बन गया और शेष समाज शोषित वर्ग हुआ। विश्व में सबसे पहले 1789 में फ्रांसीसी क्रांति द्वारा पूंजीपतिवर्ग ने सामंतवाद को खत्म करके आधुनिक पूंजीवादी समाज की नींव डाली। यहीं से जनवाद की कहानी भी शुरू होती है क्योंकि इस क्रांति के नारे थे—स्वाधीनता, समानता और भाईचारा। ये नारे ही जनवाद की आधारशिला हैं। चूंकि पूंजीवादी समाज भी शोषण पर आधारित व्यवस्था में तब्दील हो गया इसलिए आगे चल कर इन जनवादी मूल्यों का हनन उसने भी किया और आज भी कर रहा है, मगर ये मूल्य जनवादी मूल्यों के रूप में आज भी हमारे लिए प्रासंगिक हैं क्योंकि इन मूल्यों को उभरते प्रगतिशील युग के पूंजीवाद ने समाज को दिया था।

पूंजीवादी समाज अपने साथ उत्पादन के साधनों को और अधिक विकसित करके साम्राज्यवाद की मंज़िल में दाखिल हुआ और पिछड़े देशों पर पहले उपनिवेशी कब्ज़ा करके और बाद में उनके बाज़ार और कच्चे माल को किसी न किसी तरह हथिया कर खुद को मज़बूत बनाता गया। साम्राज्यवाद और पूंजीवाद तथा अन्य शोषणपरक समाज व्यवस्थाओं का खात्मा सर्वहारावर्ग के नेतृत्व में उसकी वैज्ञानिक विचारधारा के सक्रिय अमल के माध्यम से हो सकता है, इसे 1917 की सोवियत क्रांति ने सिद्ध किया था और पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के बाद की नयी मंज़िल यानी समाजवाद में अपने समाज को दाखिल किया था। साम्राज्यवाद की चालों और उस समाज के नेतृत्व द्वारा की गयी कुछ भूलों के कारण कुछ देशों में प्रतिक्रांति सफल हो गयी और फिर से वहां समाजवाद की जगह पूंजीवाद का वर्चस्व कायम हो गया, मगर समाजवादी व्यवस्था का वजूद खत्म नहीं हुआ और न ही हो सकता है क्योंकि मानव समाज मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को सदा सदा के लिए बनाये नहीं रख सकता, उसका एक न एक दिन खात्मा होना ही है। मुक्तिबोध के शब्दों में 'यह भवितव्य अटल है / इसको अंधियारे में झोंक न सकते'। जिस तरह समाज के विकास में पहले की शोषण-व्यवस्थाएं (दास व्यवस्था, सामंती व्यवस्था, उपनिवेशवादी व्यवस्था) नहीं रहीं, उसी तरह साम्राज्यवादी और पूंजीवादी शोषण की व्यवस्थाएं भी अमर नहीं हैं, इनका भी अंत तो होना ही है। समाजवाद के बाद विश्व में जब उत्पादन के साधन इतने अधिक विकसित अवस्था में पहुंच जायेंगे कि किसी भी तरह की निजी संपत्ति और उसकी निजी मिल्कियत की ज़रूरत ही नहीं रह जायेगी, तो विश्वमानवता साम्यवाद की मंज़िल में प्रवेश कर जायेगी।

सामाजिक विकास की विभिन्न मंज़िलों की यहां चर्चा करने का मक़सद यह था कि जनवाद, दर असल, तब वजूद में आया था जब पूंजीपतिवर्ग एक नये वर्ग के रूप में उभरा था और उसने हर स्तर पर वैज्ञानिक सोच और ज्ञानविज्ञान को बढ़ावा दिया था, भले ही मुनाफ़े की गरज से ही यह सब क्यों न हुआ हो। इस तरह उदीयमान पूंजीवाद एक प्रगतिशील युग अपने साथ लाया था। इसीलिए पूरे समाज को अपने पक्ष में करने के लिए उसने 'स्वाधीनता, समानता और भाईचारा' जैसे नारे दिये थे और संसदीय व्यवस्था और चुनावप्रणाली तथा जनता के मूलभूत अधिकारों आदि की नयी व्यवस्था स्थापित की थी जो कि निस्संदेह सामंतवादी व्यवस्था के मुक़ाबले बेहतर व्यवस्था है। 'जनवाद', अंग्रेज़ी के 'डिमोक्रेसी' शब्द का हिंदी अनुवाद है, इसे कोई 'लोकतंत्र', तो कोई 'जनतंत्र' और कोई पिछड़ी मानसिकता से 'प्रजातंत्र' भी कहते हैं। ('प्रजा' की अवधारणा तो 'राजा' की अवधारणा के साथ ही मर जाती है या मर जानी चाहिए) शोषण की व्यवस्था बरकरार रखने के लिए पूंजीपतिवर्ग अपने उदयकाल में दिये गये नारों और 'डिमोक्रेसी' जैसी संस्थाओं को भी बाद में ख़त्म करने की कोशिश करने लगता है, या तो सैनिक तानाशाही द्वारा या अन्य तरह के तानाशाही हथकंडों द्वारा। 'डिमोक्रेसी' या जनवादी व्यवस्था पूंजीपतिवर्ग का जब तक हितसाधन करती है तब तक उसे चलने दिया जाता है और जैसे ही वह पूंजीवाद के हितों के आड़े आती है, पूंजीपतिवर्ग और सामंतवर्ग उसे नष्ट करने और जनवाद को मज़बूत करने वाली लोकतांत्रिक संस्थाओं को विकृत करने लगते हैं या उनका खात्मा कर डालते हैं। विश्व इतिहास में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। हमारे यहां भी सत्तरोत्तरी बरसों में आपात्काल के रूप में इसी प्रक्रिया को देखा गया था। आज की केंद्र सरकार भी नये नये विधेयकों और अध्यादेशों से जनवाद पर हमला कर रही है।

इज़ारेदार पूंजीवाद जिस 'जन' का शोषण करता है, उसे भी ठीक से परिभाषित करना होगा। वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर परखें तो हम पायेंगे कि 'जन' की अवधारणा भी वर्गीय होती है। हमारी आज़ादी के दौर में समाज के विकास में अवरोध पैदा करने वाली ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियां और उनसे सहयोग करने वाली सामंती ताकतें भारतीय समाज की मुख्य दुश्मन थीं और देश के पूंजीपतियों से ले कर मज़दूरवर्ग तक शोषितों की क़तार में शामिल थे, इसलिए पूंजीपतियों समेत वे सारे वर्ग 'जन' की कोटि में आते थे, वे सब भारत की बहुसंख्यक 'जनता' थे जिन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति चाहिए थी। जब भारतेंदु हरि चंद्र ने लिखा था कि 'आवहु सब मिलि रोवहु भारत भारत भाई', तब इस 'भारत भाई' में नवोदित पूंजीपतिवर्ग समेत सारे वर्ग शामिल थे, क्योंकि 'धन विदेस चलि जात यहै दुख भारी'। मगर उस समय की भारतीय 'जनता' के वर्गीय चरित्र में आज़ादी के बाद

तब्दीली हो गयी क्योंकि आज़ादी के बाद भारत का बड़ा पूंजीपतिवर्ग और बड़ा भूस्वामीवर्ग सत्ता में आ गया और उस गठजोड़ ने साम्राज्यवाद से सहयोग किया। यह एक नयी क़तारबंदी थी जिसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जगह नया शासक बना इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग और सामंतवर्ग का गठजोड़ जिसने साम्राज्यवाद से अपना सहयोग जारी रखा, बाकी तमाम वर्ग शासित हो कर उनके द्वारा शोषित होने लगे। राजनीतिक सत्ता किसी भी पार्टी या व्यक्ति के हाथ में रही हो, और उसने नारे भले ही 'समाजवादी ढांचे के समाज' के दिये हों, पर्दे के पीछे असली शासक ये ही वर्ग थे, और आज भी हैं। इसका प्रमाण यह है कि आज़ादी के बाद इज़ारेदार घरानों की परिसंपत्तियों में कई हज़ार गुना बढ़ोतरी हुई जबकि सबसे निर्धन तबके भूख से मौत का शिकार होने के लिए आज भी अभिशप्त हैं। आज़ादी के बाद के समाज के शासकवर्गों का यही वर्गीय यथार्थ है।

'जन' शब्द का इस्तेमाल करते समय इस नयी वर्गीय क़तारबंदी को हमेशा ध्यान में रखना होगा क्योंकि इसी से हमारे समाज की शोषणप्रक्रिया को समझा जा सकता है और आज़ादी के बाद की 'जनता' की अवधारणा को भी साफ़तौर पर व्याख्यायित किया जा सकता है। इस यथार्थ को ध्यान में न रखने के कारण हिंदी के ज़्यादातर साहित्यकार सिर्फ़ मज़दूर और किसान को ही 'जन' की परिधि में लाते हैं या फिर उनके तर्क एक अमूर्त 'साधारण जन' निराकार ब्रह्म की तरह कहीं होता है जिससे जुड़ने या जिसके बीच में जाने की हांक साहित्य में लगायी जाती है। यह कसरत हिंदी लेखन में खूब होती रहती है। डा.रामविलास शर्मा जैसे लेखक तक इसी अवधारणा को अपने लेखन द्वारा व्यक्त करते रहे और उन्हीं की दोषपूर्ण लीक पर चलने वाले बहुत से लेखक जो खुद को मार्क्सवादी भी कहते और मानते हैं 'जन' की इसी संकुचित परिभाषा को आज भी पीटते रहते हैं और रचनाकारों को तरह तरह के उपदेश देते रहते हैं। आज के समाज को वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषित करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बड़े इज़ारेदार घरानों और बड़े भूस्वामियों के इस शासकीय गठजोड़ जो कि विश्व साम्राज्यवाद के साथ सहयोग की नीति पर चल रहा है के अलावा बाकी सारे वर्ग आज भी शोषित हो रहे हैं, यानी वे सारे वर्ग आज की 'जनता' के दायरे में आते हैं। इसलिए आज़ादी के बाद, 'जनता' के दायरे में आयेंगे : सभी श्रेणियों के मज़दूर, सभी श्रेणियों के ग़रीब-अमीर किसान, मध्यवर्ग के लोग और ग़ैरइज़ारेदार पूंजीपति भी। मेरे विचार से आज के दौर में ये सब 'जन' हैं जिनका एक साझा मोर्चा बने और जो आज के सबसे क्रांतिकारीवर्ग यानी सर्वहारावर्ग के नेतृत्व में, जिस पर इतिहास ने अग्रगामी समाजपरिवर्तन की ज़िम्मेदारी डाली है हमारे समाज को विकास की एक नयी मंज़िल में ले जाये। इसका अर्थ यह है कि आज

के पूंजीवादी-सामंतवादी लोकतंत्र की जगह वास्तविक लोकतंत्र जिसे 'जनता का जनवाद' भी कहा जाता है की स्थापना हो। ऐसी व्यवस्था ही इन तमाम शोषित वर्गों का हित साधन करेगी, आज़ादी के बाद यह एक नयी मंज़िल होगी क्योंकि उसका वर्गचरित्र भिन्न होगा। आज हमारे यहां जो जनतंत्र है उसका नेतृत्व पूंजीवादी-सामंती वर्गों के हाथ में है जो साम्राज्यवाद के साथ भी समझौते करता है, इसलिए वे इस आधे अधूरे जनतंत्र को भी खत्म करने और उसकी जगह कोई नंगी तानाशाही व्यवस्था या राष्ट्रपति प्रणाली लाने की कोशिश करेंगे क्योंकि जनतांत्रिक प्रणाली से अपनी शोषणपरक व्यवस्था को चलाये रखना आज के शोषकवर्गों के लिए दिनों दिन मुश्किल होता जायेगा। इसलिए जनतंत्र की रक्षा और उसके विकास का दायित्व उन तमाम वर्गों पर है जो आज़ादी के बाद के नये शोषकशासकवर्गों के कारनामों से शोषण की चक्की के नीचे पिस रहे हैं। अब तक ये शोषकशासकवर्ग शोषण-दमन का यह काम अपनी राजनीतिक पार्टियों जैसे कांग्रेस, बी जे पी आदि बूर्जुआ पार्टियों के माध्यम से और उन्हें सत्ता में ला कर करते रहे हैं इसलिए दो दलीय व्यवस्था कायम करने की फ़िराक़ में भी हैं जिससे उनके हितों पर आंच न आये और आम जन को इस जटिल और पर्दे के पीछे की असलियत का पता भी न लगे।

ऐतिहासिक तौर पर देखें तो सामाजिक विकास की हर नयी मंज़िल के लिए जो संघर्ष होता है उसकी अगुआई ऐसा वर्ग करता है जो शोषण की मार का सीधा शिकार होता है। फ़्रांस की क्रांति की अगुआई पूंजीपतिवर्ग ने की थी क्योंकि सामंती व्यवस्था उसे सबसे अधिक उत्पीड़ित कर रही थी और पूंजीवाद के विकास में रोड़ा बन रही थी। हमारी आज़ादी की लड़ाई का नेतृत्व भी हमारे देश का पूंजीपतिवर्ग कर रहा था क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद से उसे अपने लिए भारतीय बाज़ार मुक्त कराना सबसे ज़्यादा ज़रूरी था जिससे कि वह अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमा कर अपना विकास कर सके। इसी तरह आज के दौर में इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग की शोषण की क्रूर मार को मज़दूरवर्ग सबसे प्रत्यक्ष तौरपर अनुभव करता और उसे झेलता है, इसलिए समाज के विकास को अगली मंज़िल में ले जाने का ऐतिहासिक दायित्व इस दौर में सर्वहारावर्ग के कंधों पर आ गया है। आज सबसे ज़्यादा उजाड़, (घरबार से उजाड़ना, नौकरी से छंटनी करके उजाड़ना, आधी अधूरी मज़दूरी देकर और नक़ली दवाइयां और दारू आदि बनाकर उनका स्वास्थ्य उजाड़ना आदि) किसका हो रहा है? इस उजाड़ पर दत्तोपंत टेंगड़ी जैसे पूंजीवादपरस्त संघी नेता को भी घड़ियाली आंसू बहाते और अपनी ही सरकार को जुतियाते हुए पिछले दिनों देखा गया। इसीलिए सर्वहारावर्ग अपनी वैज्ञानिक विचारधारा (जिसे मार्क्सवाद-लेनिनवाद के नाम से भी जाना जाता है) से लैस हो कर अपने राजनीतिक

संगठनों, वर्गीय संगठनों और अन्य जनसंगठनों के माध्यम से समूचे शोषित जन की एकता कायम करके समाज को पहले 'जनता के जनवाद' की अवस्था में और बाद में 'समाजवाद' की मंज़िल में ले जायेगा। शोषण से मुक्ति की ये नयी मंज़िलें हैं जिनका नेतृत्व वैज्ञानिक समाजवाद की विचारधारा से लैस हो कर सर्वहारावर्ग ही कर सकता है। आज उसकी सबसे बड़ी चिंता इस आधे अधूरे बूर्जुआ जनतंत्र को बचाने और उसे अगली मंज़िल के रूप में विकसित करने की है।

आज के दौर में शोषकवर्गों का सबसे भयंकर हमला जनवाद पर ही है। सवाल पूंजीवादी-सामंती पार्टियों जैसे कांग्रेस या बी जे पी के सत्ता में आने जाने का नहीं है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि ये पार्टियां तो शोषकशासक वर्गों की चरणदासियां हैं जो उन वर्गों की सेवा में लगी हैं और उनका आर्थिक एजेंडा भी एक ही है जिससे शोषण पाप का परंपरा-क्रम अबाध रूप से चलता रहे। जनता के जनवादी अधिकारों का हनन कांग्रेस के माध्यम से भी उन्हीं वर्गों ने अनेक बार कराया और अब देश की सबसे खतरनाक और प्रगतिविरोधी शक्तियों यानी आरएसएस-विश्वहिंदूपरिषद आदि की देशविभाजक सांप्रदायिक फ़ासिस्ट विचारधारा पर चलने वाली भा ज पा के माध्यम से भी वे ही वर्ग जनवादी अधिकारों पर हमला करवा रहे हैं और आम जन के खून पसीने से बने मुनाफ़ा देने वाले पब्लिक सेक्टर के उद्योगों को देशी विदेशी इज़ारेदारों को बेच रहे हैं। इज़ारेदारों को कम ब्याज पर पूंजी मुहैया करवा रहे हैं और बाकी सभी वर्गों की आमदनी में कटौती कर रहे हैं, ग़रीबों की बचत या प्रोविडेंट फ़ंड आदि पर बार बार कम ब्याज देने के क़दम उठा कर उनकी जमापूंजी लूटी जा रही है। शेयरों में ग़रीबों की लगी पूंजी लूट खायी, सरकारी संस्था यू टी आई ने भी यू.एस 64 जैसी स्कीम के माध्यम से निवेशकों की छोटी मोटी रक़म खा डाली। आख़िर कहां गयी यह सारी पूंजी ?

इस तरह इज़ारेदारों और विदेशी कंपनियों के अलावा बाकी सभी वर्गों पर आर्थिक और शारीरिक हमला हो रहा है, कमज़ोर वर्ग और संप्रदाय उनके निशाने पर सबसे पहले हैं। यह एक वर्गीय प्रक्रिया घटित हो रही है। यदि कांग्रेस सत्ता में होती तो भी ये उद्योग बेचे जाते और उस पार्टी के माध्यम से भी जनवादी अधिकारों का हनन कराया जाता। फिर भी सांप्रदायिक फ़ासीवादी ताक़तें जिनके हाथ में आज केंद्र की और कुछ राज्यों की सत्ता है जनवाद की सबसे बड़ी दुश्मन हैं क्योंकि संघी फ़ासिस्ट विचारकों ने अपने लेखों और किताबों में अपनी इस दुश्मनी को साफ़ साफ़ लिखा है और हिटलर और मुसोलिनी को अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया है जिन्होंने पूंजीवादी जनतंत्र का खात्मा करके नंगी पूंजीवादी तानाशाही कायम की थी और मानव सभ्यता को विश्व भर में अपने जंगलीपन से कलंकित किया था।

(उदाहरण के लिए गुरु गोलवलकर की पुस्तक, *We or Our Nationhood Defined*, 1939 Edition, p.35 देखें) इसलिए आज के दौर में हिटलर मुसोलिनी की भारतीय औलादों से भारतीय जनतंत्र को सबसे बड़ा खतरा है, जनतंत्र या जनवाद में विश्वास रखने वालों को यह कभी नहीं भूलना चाहिए। भारतीय समाज के भावी विकास के ये सबसे बड़े दुश्मन हैं। पिछले वर्ष दशहरे के पर्व पर इन फ़ासिस्ट संगठनों के नेतृत्व ने लाठी की जगह घरों में राइफल या पिस्तौल आदि हथियार रखने का भी आह्वान किया, इस तरह ये संगठन भी अन्य आतंकवादी संगठनों की तरह ही खुद को आधुनिक हथियारों से लैस कर रहे हैं। भारतभूमि के सदियों के भाईचारे के मूल्य को वे भारतीयों के ही खून में डुबो देने की कोशिश में लगे हैं। गुजरात को उन्होंने अपनी लेबोरेटरी बना कर अपने फ़ासिस्ट चरित्र को पूरी तरह उजागर कर दिया है। हम तो बहुत पहले से इस चरित्र को बता रहे थे लेकिन अब लोगों ने अपनी आंखों से जनवाद और मानवता के हत्यारों को साफ़ साफ़ देख लिया है।

इज़ारेदार पूंजीवाद और साम्राज्यवाद विश्वसमाज में ऐसी ही वहशी ताकतों को पालता पोसता है और जनवाद के खिलाफ उन्हें खड़ा करता रहा है। उनका मुख्य एजेंडा ही कला, संस्कृति और मानव श्रम के कलात्मक प्रतीकों के ध्वंस का होता है। हमारे देश में भाजपाई कठमुल्लाओं द्वारा किये गये बाबरी मस्जिद के ध्वंस और उससे पहले वहीं की सदियों पुरानी हनुमानगढ़ी को मटियामेट करने के शर्मनाक कांड को, पिछले ही बरसों में ताजमहल की सुंदर दीवारों को विद्वेषित करने और सुप्रीम कोर्ट की ऐसी तैसी करते हुए बाबरी मस्जिद परिसर के प्रतिबंधित क्षेत्र में घुसने की कारगुज़ारी और गुजरात में वली दक्खनी या वली गुजराती और अनेक कलाकारों, संगीतज्ञों की मज़ारों का ध्वंस संघियों के इसी ध्वंसात्मक सांस्कृतिक एजेंडे के ही सबूत हैं।

शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में भी जो कुछ 'सत्यं, शिवं और सुंदरं' है उसके प्रति यही ध्वंसात्मक रवैया है। इसी तरह अफ़गानिस्तान में साम्राज्यवाद द्वारा पालित पोषित तालिबानों का एजेंडा भी ध्वंस ही था, बामियान की बुद्धमूर्ति हो या महिलाओं के अधिकार, उनका ध्वंस ही उनकी उपलब्धि थी। मानवश्रम से बने विश्व व्यापार केंद्र पर किये गये आतंकवादी हमले में भी वहां काम करने वाले कर्मचारी ही ज़्यादा मारे गये, मार्गन स्टेनले जैसी कंपनी जिसमें करोड़ों ग़रीब जनों का पैसा जमा था भी जल कर राख हो गयी और सारा लेखाजोखा नष्ट हो गया जिससे ग़रीब लोगों को पैसा भी शायद ही वापस मिले। भारत में भी उस कंपनी के पास जमा ग़रीबों की पूंजी के मूलधन में दूसरे ही दिन कटौती हो गयी। कश्मीर, पंजाब या देश के अन्य हिस्सों में सक्रिय धार्मिक तत्ववादी कठमुल्लाओं ने भी हमेशा कमज़ोरों और जनवादी

हिस्सों को ही अपने हमले का निशाना बनाया। महिलाओं पर अत्याचार ये सबसे पहले करते हैं, दिल्ली में साहिबसिंह वर्मा ने अपने संघी दिमाग से अपने शासनकाल में स्कूली छात्रों के स्कर्ट पहनने पर, मच्छरों के काटने से बचाने के नाम पर, पाबंदी लगायी थी (उन से पूछा गया कि उसी तर्क से खाकी नेकर पर क्यों नहीं?), वैंलेंटाइन डे पर कानपुर आदि कुछ शहरों में लड़कियों पर भाजपाई हमले की घटनाएं हुईं, भाजपा नेताओं द्वारा सतीप्रथा को समर्थन देने की बात तो किसी से छिपी नहीं है। इसी तरह इस्लाम को कलंकित कराने वाले तालिबान, कश्मीरी उग्रवादी संगठन आदि भी महिलाओं के अधिकारों का ध्वंस सबसे पहले करते हैं। ये सब जनवाद के शत्रु हैं। इनका न तो किसी धर्म, मज़हब या संस्कृति या देश या राष्ट्रियता से कोई लेना देना है और न ही समाज के विकास की ही उन्हें कोई चिंता। इनमें से ज़्यादातर साम्राज्यवाद के टुकड़ों पर चलने वाले भाड़े के टट्टू ही होते हैं। (तहलका के टेप पर बीजेपी के भूतपूर्व अध्यक्ष बंगारू लक्ष्मण के 'डिफेंस' सौदे में डालरप्रेम को सभी ने देखा ही है, हवाला के माध्यम से भी आर एस एस के पास आडवाणी व मदनलाल खुराना आदि के माध्यम से धन उन्हीं स्रोतों से आया था जहां से कश्मीर के उग्रवादियों के पास आता था।) विश्व के इन तमाम प्रगतिविरोधी तत्वों का सरगना और उनका पालनहार अमेरिकी साम्राज्यवाद भी कमजोरों को ही सबसे पहले अपने हमले का निशाना बनाता है। अफ़गानिस्तान में आतंकवाद मिटाने के नाम पर हुए अमरीकी हमलों से सबसे अधिक मौतें औरतों, बच्चों और बूढ़ों और अपाहिजों की ही हुईं जो जान बचा कर कहीं सुरक्षित स्थानों तक भाग नहीं पाये। वहां पर रेडक्रास जैसी संस्था तक का ध्वंस कर डाला। हिरोशिमा नागासाकी रहा हो या वियतनाम, या पिछले बरसों में इराक पर की गयी बमवर्षा, अमरीका के मानवताविरोधी हमलों से कमजोर ही सबसे ज़्यादा मरे। यह तो अब आधिकारिक तौर पर अमेरिकी प्रशासन और ब्रिटेन के शासकों ने भी स्वीकार कर लिया है कि ओसामा बिन लादेन को 'जीवित या मृत' पकड़ना उनके लिए आसान नहीं है, शायद असंभव भी हो। कोई बतायेगा, तब काबुल, कांधार आदि ऐतिहासिक शहरों का ध्वंस किसलिए किया गया? नंगे भूखे अफ़गान जनों को किस लिए आग में भूना गया? अब फिर से इराक पर हमले की धमकी अमरीकी निज़ाम दे रहा है, जबकि इजराइल जैसे दुष्ट प्रशासन को संरक्षण दे रहा है जो फ़िलिस्तीनी जनता को रोज़ ही तबाह कर रहा है। क्या कोई भी संवेदनशील लेखक, कलाकार या बुद्धिजीवी या समझदार शांतिकामी व्यक्ति ऐसे युद्ध का विरोध नहीं करेगा? अंग्रेज़ी लेखिका सूज़न सौटैंग से ले कर भारतीय लेखिका अरुंधती राय और करोड़ों शांतिकामी विश्वजन तक जिनमें हम भी शामिल हैं ऐसे वहशी युद्धों के खिलाफ़ अपनी आवाज़ बुलंद कर और साम्राज्यवाद के असली मंसूबों

को उजागर करके अपनी सही सामाजिक भूमिका और विश्वबंधुत्व की भावना का इज़हार करते रहे हैं और सारी दुनिया को चिल्ला चिल्ला कर यह बता रहे हैं कि वहशीपन साम्राज्यवाद और इज़ारेदार पूंजीवाद-सामंतवाद की चारित्रिक विशेषता ही है, ये रक्तपायीवर्ग विववभर में जनवाद के सबसे बड़े दुश्मन हैं। इनसे संघर्ष करने वाली ताकतें ही विश्वसमाज में जनवादी ताकतें कहलाती हैं और प्रतिरोध की इन ताकतों की विचारधाराएं, कलाएं, साहित्य, विचार और दर्शन जनवादी कृतित्व की श्रेणी में गिने जायेंगे। इसलिए जनवाद एक बहुत ही व्यापक विचारप्रणाली है जिसे साहित्य और संस्कृति के संदर्भों में संकुचित नहीं होने देना चाहिए जैसा कि हिंदी साहित्य में अक्सर होते देखा गया है।

(रचनाकाल : 2-8-2009, स्वाधीनता शारदीय अंक में प्रकाशित)

ओमप्रकाश ग्रेवाल: विचारधारा के सवाल चंचल चौहान

डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल का आलोचनात्मक लेखन मुख्य रूप में विचारधारा के सवालों को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के संवेदनात्मक उद्देश्य से परिचालित हुआ था। यह सभी जानते हैं कि 1970 के आसपास भारतीय समाज में पूंजीवाद के सामने काफी संकट की स्थिति पैदा हो गयी थी और वर्गसंघर्ष में तीव्रता आ गयी थी। साहित्य में उभरने वाला जनवादी आंदोलन उसी संघर्ष की उपज था। सत्ताधारी वर्गों के शोषण, दमन और अन्याय के विरोध में संगठित और असंगठित आंदोलन देश भर में हो रहे थे। उस दमन और अन्याय की चरम परिणति एमर्जेंसी में हुई थी जिसमें लेखकों की भी लेखकीय आजादी छीन ली गयी थी। हिंदी साहित्य में जनवादी आंदोलनों की प्रतिच्छवि साफ़ साफ़ दिखायी दे रही थी। इस उभार की सही और वैज्ञानिक व्याख्या उसी वक्त डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल ने की थी और उसे उन्होंने अपनी आलोचना के केंद्र में रखा था। उनसे पहले के नामी गिरामी आलोचक इस नयी स्थिति को सही तरीके से नहीं समझ पा रहे थे, इसीलिए पुराने आलोचक नये उभार के साहित्य के बारे में अपनी लेखनी नहीं चला पा रहे थे, जबकि ग्रेवाल जी उस दौर के सभी तरह के लेखन का ज़ायजा अपने सुलझे हुए नज़रिये से ले रहे थे। हिंदी आलोचना को डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल का यह अदभुत योगदान था जिसके बारे में आज भी हिंदी का पाठक और प्राध्यापक भी अनभिज्ञ हैं।

डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल शरीर रूप में अब हमारे बीच नहीं हैं, मगर वे अपने आलोचनात्मक सृजन से काफी कुछ हिंदी साहित्य को दे गये हैं जिसके लिए उन्हें हमेशा याद किया जायेगा। यों तो अंग्रेजी और हिंदी में उन्होंने काफी लिखा था, मगर वह सारा प्रकाशित रूप में पाठक के सामने नहीं है, पत्रिकाओं और ख़ासकर लघु पत्रिकाओं में यहाँ वहाँ उनके अनेक लेख बिखरे पड़े हैं। कुछ लेख, मुख्यरूप में कविता की आलोचना और विचारधारात्मक बहसों से संबंधित लेख, उनकी आलोचना पुस्तक, *साहित्य और विचारधारा* में संकलित हैं जो ग्रेवाल जी के गहन अध्ययन और संतुलित नज़रिये का प्रमाण देते हैं। उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में पी एच डी अमेरिका की रोचेस्टर यूनिवर्सिटी से की थी और चाहते तो अन्य बुद्धिजीवियों की तरह वे भी

वहीं के नागरिक हो कर विश्वस्तर पर अंग्रेज़ी के माध्यम से प्रसिद्धि और दौलत पा सकते थे, लेकिन उन्होंने भारत वापस लौट कर अपने क्षेत्र और अपने लोगों के बीच ही, अपनी ही बोली बानी में, यानी हरियाणा में ही जीविका उपार्जन और साथ ही सांस्कृतिक नवजागरण में अपने को झोंक देना ज़्यादा सही समझा। वे चाहते तो भारत के भी किसी महानगर में अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर पद पर आसानी से चुने जाते मगर वह भी उनकी ख्वाहिश का हिस्सा कभी नहीं बना। उन्होंने तो अपने लिए अपना कर्मक्षेत्र चुन लिया था, बौद्धिक जगत के 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः' में अपना पक्ष चुन लिया था और इस तरह जीवन पर्यंत सांस्कृतिक विचारधारात्मक संघर्ष में अपनी सही भूमिका निभाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जनवादी लेखक संघ में तो उनकी नेतृत्वकारी भूमिका को मैंने नज़दीक से देखा और समझा था। उन्हें कोरा क्रांतिकारी वाग्बिलास करने वाले मार्क्सवादियों का संकीर्णतावाद और ओछापन छू तक नहीं गया था, क्योंकि वे साहित्य और विचारधारा के गंभीर अध्येता रहे थे। मुक्तिबोध की ही तरह उन्होंने विश्वस्तर की तमाम बहसों और विचारसरणियों का पूरे आलोचनात्मक विवेक से अध्ययन किया था, यह उनका अपना 'आत्मविस्तार' था, किसी ब्राह्मणवादी जनवादी की तरह न वे किसी के चले बने और न किसी को अपना चेला बनाया, वे आलोचनात्मक विवेक के सदा पक्षधर रहे, साहित्यिक आलोचना को व्यक्ति-आलोचना में कहीं भी तब्दील नहीं होने दिया जैसा कि हिंदी आलोचना के शुरूआती दौर से ले कर अब तक होता आ रहा है।

सूचना-विस्फोट के इस दौर में ओमप्रकाश ग्रेवाल की पुस्तक *साहित्य और विचारधारा* का अचर्चित रह जाना कोई अचरज की बात नहीं क्योंकि वहां किसी तरह का 'सेन्सेशनलिज्म' या किसी तरह की चटक-मटक नहीं है। वहां विचारों की एक गंभीर बहस है, आलोचना के क्षेत्र में पूंजीवादी-सामंती विचारों की अतार्किकता और झूठ को पूरी गंभीरता से उधारा गया है। पुस्तक के पहले ही लेख में उन्होंने लिखा:

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का यह एक मुख्य कर्तव्य है कि प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ चिंतकों द्वारा साहित्य के बारे में जो अवैज्ञानिक और भ्रांतिपूर्ण धारणाएं प्रचलित एवं प्रस्थापित की जाती हैं उनका सही विश्लेषण द्वारा खंडन किया जाये तथा सामान्य पाठक के सामने साहित्य के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट किया जाये।

इस 'मुख्य कर्तव्य' की याद ग्रेवाल जी उस दौर में दिला रहे थे जब हिंदी साहित्य में 'आधुनिकतावादी' विचार सरणियां (जो सारतः आधुनिकता की विरोधी थीं) आलोचना में भी छापी हुई थीं। नामवर सिंह तक का आलोचना लेखन इन विचारों की पकड़ में आ चुका था जिन्होंने अमेरिकी नव्य समीक्षा के प्रतिमानों को हिंदी में उतार दिया था। अज्ञेय-धर्मवीर भारती आदि तो खुले तौर पर प्रगतिशील विचारों पर

हमला कर ही चुके थे और मनुष्य के अकेलेपन, असमंजस अचकचाहट और 'जो मेरा है वही ममेतर है' का 'अपने अपने अजनबी' का राग या 'मर्यादा दोनों ने तोड़ी है' का अपना अंधायुगीन राग अलाप चुके थे। मुक्तिबोध ने इन प्रतिक्रियावादी विचारसरणियों से संघर्ष करने का रास्ता हम सब को सुझाया था और ग्रेवाल जी ने और मुझ जैसे उनके कई साथियों ने अपने लेखन के इस 'मुख्य कर्तव्य' का निर्वाह करने का नया रास्ता चुना था।

पुस्तक के पहले ही लेख में हमें ग्रेवाल जी की आलोचना का वह परिप्रेक्ष्य दिखायी देता है जिसे उन्होंने अपने गंभीर अध्ययन और चिंतन तथा आलोचनात्मक विवेक से हासिल किया था। वे अपने लेखन में एकांगी नहीं होते, एक मार्क्सवादी द्वंद्वात्मकता की पद्धति अपनाते हैं। मसलन, बहुत से आलोचक आज भी किसी लेखक की विचारधारा को उसके जन्मजात वर्ग से या उसके वर्गीय पालन पोषण या रहनसहन से जोड़ते हैं। ग्रेवाल जी के तर्क यह ज़रूरी नहीं है क्योंकि विचारधाराएं तो समाज में व्याप्त हैं, उन्हें शिक्षा दीक्षा संगत और परिवेश से भी अर्जित किया जाता है, इसलिए किसी लेखक में परस्पर अंतर्विरोधी विचारधाराएं भी हो सकती हैं, होती ही हैं। लेखक जिस वर्ग में पैदा हुआ था उस की विचारधारा से उसका नाता बना रहे यह ज़रूरी नहीं, उस विचारधारा के भी अंश रह सकते हैं और उससे वह अलग भी हो सकता है। वे मार्क्स की क्लासिकीय अवधारणा कि एक समय में प्रभुतासंपन्न वर्गों यानी शोषकशासक वर्गों की विचारधारा का प्रभुत्व रहता है को साहित्यिक भाषा में विस्तार देते हैं। अपने पहले ही लेख में वे तर्कसंगत तरीके से आधुनिकतावादियों की उन तमाम मिथ्या अवधारणाओं का विखंडन कर देते हैं जिन्हें हिंदी आलोचना में पिछली सदी के पचास और साठ के दशक में प्रचारित प्रसारित किया गया था और जो शीतयुद्ध के दौरान साम्राज्यवादी देशों के शासकवर्गों के विचारों की छत्रछाया में पनपी थीं, कांग्रेस फ़ार कल्चरल फ़्रीडम के भारतीय पैरोकारों द्वारा हिंदी साहित्य में उनकी डुगडुगी पीटी जा रही थी और उभरते हुए मध्यवर्ग को प्रभावित भी कर रही थी।

उनका एक और लेख 'साहित्य और राजनीति के अंतःसंबंध' बहुत ही महत्वपूर्ण है। जन के पक्षधर साहित्यिक, सांस्कृतिक संगठनों के स्वरूप और कार्यशैली को बेहतर बनाने के लिए यह लेख एक सही दिशा निर्देश करता है। जनवादी संगठनों में जो संकीर्णतावादी रुझान व्याप्त रहते हैं और जिनकी वजह से संगठनों का विस्तार नहीं हो पाता, ग्रेवाल जी उन्हीं मुद्दों पर गंभीरता से विचार करते हैं। कुछ मध्यवर्गीय मार्क्सवादी लेखक अपने रचनाकर्म और लेखन व जीवन व्यवहार में संकीर्णतावाद के शिकार होकर उस राजनीति और उस वर्ग का अहित करते हैं जिसकी पक्षधरता वे उद्घोषित करते नहीं थकते। ग्रेवाल जी की चिंता के केंद्र में ऐसे

ही लेखकों की करनी थी जिसकी वजह से उन्होंने यह लेख लिखा। उन्होंने जनवादी साहित्य आंदोलन की धारा में ऐसे लेखकों की भूमिका को रेखांकित किया जो प्रत्यक्ष या घोषित तौर पर सर्वहारावर्ग की राजनीति व विचारधारा से जुड़े न भी हों मगर उनका लेखन समाज में नागरिक स्वतंत्रताओं और अभिव्यक्ति की आज़ादी व लोकतांत्रिक संविधान के तहत मिले हुए जनवादी अधिकारों व मूल्यों के पक्ष में जाता हो। उन्हीं के शब्दों में 'बहुत से ऐसे लेखकों और कलाकारों का सक्रिय सहयोग लेना आवश्यक होगा जिनकी राजनीतिक समझ और राजनीतिक प्रतिबद्धता जनवादी अधिकारों और जनवादी मूल्यों की रक्षा करने के लक्ष्य से बहुत आगे न बढ़ पायी हो।' ग्रेवाल जी की यह समझ डा. रामविलास शर्मा की उस समझ से बहुत आगे की है जिसके तहत उन्होंने गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर और मुक्तिबोध तक को 'रहस्यवादी' या 'अस्तित्ववादी' बता कर खारिज कर दिया था या उनकी भोंडी नकल करने वाले कई आज के हिंदी आलोचक आचार्यत्व की मुद्रा में केदारनाथसिंह या रघुवीर सहाय जैसे जनवादी रचनाकारों को भी उसी तरह के कुतर्क से खारिज करते रहते हैं।

पश्चिम में आधुनिकतावादविरोधी लेखन से हिंदी आलोचना को परिचित कराने के लिए ग्रेवाल जी ने लूकाच पर दो लेख लिखे जो उक्त पुस्तक में संग्रहीत हैं। इन लेखों के पीछे भी वही प्रेरणा थी। ग्रेवाल जी ने लिखा कि मार्क्सवादी नज़रिये से यानी "ऐतिहासिक-दार्शनिक दृष्टिकोण के सहारे लूकाच ने जिस सूझबूझ और ईमानदारी के साथ गोयटे, बाल्ज़ाक, फ़्लावेयर, ज़ोला, टाल्सटाय, दोस्तोवस्की, काफ़्का तथा टामस मान आदि साहित्यकारों की कृतियों का विश्लेषण किया है उससे यह भ्रांति अवश्य दूर हो जानी चाहिए कि मार्क्सवादी आलोचक पक्षपातपूर्ण रवैया अख़्तियार करके केवल उन्हीं लेखकों की प्रशंसा करता है जो समाजवादी विचारधारा को अपने साहित्य के माध्यम से आगे बढ़ाते हैं और बाकी सभी साहित्यकारों की कटु आलोचना करता है।' जिस तरह स्वाधीनता आंदोलन के दौरान हिंदी के रचनाकारों में यह लगन थी कि विश्वस्तर का साहित्य और आलोचना हिंदी में भी हो, उसी तरह की लगन ग्रेवाल जी में दिखती है कि मार्क्सवादी आलोचना कर्म हमारे यहां भी विश्वस्तर का हो। इसीलिए वे हिंदी पाठकों को लूकाच के आलोचना सिद्धांतों से वाकिफ़ कराते हैं जिससे कि प्रगतिवाद के दौर की आलोचना पद्धति के दोषों से आज का हिंदी आलोचना कर्म मुक्त हो सके, हालांकि हमारे समाज में गहरे तक बैठी सामंती मानसिकता से जकड़ी हिंदी आलोचना मार्क्सवाद के नाम पर आज भी अहंवादी और व्यक्तित्वपरक विश्लेषण में ही उलझी हुई है और व्यक्तित्वों के दाख़िल-खारिज व खाता-खतौनी के पटवारीकर्म से आगे नहीं बढ़ पा रही।

इस तरह विश्वस्तर के ज्ञान से लैस हो कर ग्रेवाल जी ने हिंदी साहित्य में आधुनिकतावाद के जनविरोधी स्वरूप का तर्कसंगत विश्लेषण किया। दर असल आधुनिकतावाद की जमीन पर खड़ी सभी साहित्यिक अवधारणाओं से वे टकराये चाहे वह प्रयोगवाद के भीतर की या उसके बाद की हिंदी कविता हो या नामवर सिंह की 'नव्य समीक्षा'। उनके कुछ लेख, जैसे 'आधुनिकतावाद का जनविरोधी स्वरूप', 'नये काव्य की सामाजिक आधारभूमि', 'हिंदी साहित्य विवेचन में नव्य आलोचना पद्धति', 'व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की काव्याभिव्यक्तियां' उस दौर की पोलेमिक्स के हिस्से हैं जिसमें जनवादी समीक्षा पूंजीवादी विचारों वाली समीक्षा-पद्धतियों और रचनाओं से विचारधारात्मक संघर्ष चला रही थी। इस पोलेमिक्स ने हिंदी के नये पुराने सभी रचनाकारों को आकृष्ट किया था और उसी के परिणाम स्वरूप हिंदी साहित्य में जनवादी रचनाओं का आंदोलन शुरू हुआ था जो एक मंज़िल पर आ कर जनवादी लेखक संघ के रूप में संगठित भी हो गया। हिंदी साहित्य की यह आगे बढ़ी हुई चेतना थी जिसके परिष्कार में ओमप्रकाश ग्रेवाल का भी महत्वपूर्ण योगदान था। हम सब की तरह ग्रेवाल जी को भी मुक्तिबोध के रचना और आलोचनाकर्म ने बेहद प्रभावित किया था। 'मुक्तिबोध का मानवतावाद' उनके विकसित आलोचनात्मक विवेक का सबूत है।

ओमप्रकाश ग्रेवाल ने सिर्फ सैद्धांतिक लेखों तक ही अपने को सीमित नहीं रखा जैसा कि हिंदी के कई आचार्य आज भी करते हैं, और व्यावहारिक समीक्षा से कतराते हैं। उन्होंने अपने समय की कई काव्यकृतियों पर समीक्षा तो लिखी ही, अपने समय की सकारात्मक रचनाधर्मिता का बहुत ही गंभीरता से विवेचन किया। इस संदर्भ में उनके लेख, जैसे 'कविता की भाषा और जनभाषा', 'समकालीन हिंदी कविता में वाम', 'निम्नमध्यवर्गीय आक्रोश की कविता', 'जनवादी कविता की विरासत', 'जनवादी कविता की पहचान', 'विजेंद्र की लंबी कविता 'जनशक्ति', 'कैलास जायसवाल की आठ कविताएं', 'मिट्टी का चेहरा' और 'अबूतर-कबूतर' देखे जा सकते हैं। व्यावहारिक समीक्षा में डाइलेक्टिक्स का किस तरह प्रयोग किया जाता है, यह ओमप्रकाश ग्रेवाल से सीखा जा सकता है। रचना की तह तक पहुंच कर युगीन सामाजिक चेतना में उसकी शक्ति और सीमाएं रेखांकित करना उनकी पद्धति का एक अहम हिस्सा था। उन्होंने कहीं फ़तवे नहीं दिये, मुंह देख कर तमाचा नहीं मारा, व्यक्ति की जगह समाज पर निगाह रखी और मुक्तिबोध की परंपरा में इज़ाफ़ा किया हिंदी आलोचना की बहुत दिनों से चली आ रही व्यक्तिपरक आलोचना की खुराब पद्धति से अपने को मार्क्सवादी कहने वाले और गैरमार्क्सवादी भी बहुतेरे सुनामधन्य आलोचक मुक्त नहीं रख पाये (अधिकांश तो आज भी वही पुराना ढोल

पीट रहे हैं) ओमप्रकाश ग्रेवाल ने उस पद्धति से अपने को एक दम अलग रखा। उनकी आलोचना नयी कविता के दौर से ले कर उनके अपने रचनासमय तक की कविताओं का विश्लेषण संयत तरीके से करती है। अपनी आलोचना के लिए वे किसी को बड़ा या छोटा नहीं मानते, और न किसी को उठाते या गिराते हैं।

हिंदी साहित्यालोचन के विकास के लिए ओमप्रकाश ग्रेवाल का सबसे बड़ा योगदान यही है कि उन्होंने मुक्तिबोध की ही तरह वस्तुपरक आलोचना की पद्धति पर ज़ोर दिया और उसके अमल का एक परिप्रेक्ष्य भी हमारे सामने रखा। यह नज़रिया सिर्फ सौंदर्यशास्त्रीय विश्लेषण तक सीमित नहीं है, इसे अपनाने से जनवादी मूल्यों और संगठनों के विस्तार में भी मदद मिलती है, इस तरह एक सामाजिक सरोकार को सही तरीके से पहचानने में दृष्टि की सफ़ाई भी होती है।

जनवरी 2007

उत्तरआधुनिकतावाद और गुजरात चंचल चौहान

अपने एक संपादक मित्र की पत्रिका के लिए मैं माडर्निज्म और पोस्टमाडर्निज्म पर एक लेख लिखने की तैयारी कर रहा था कि उन्हीं दिनों गुजरात को मुल्क की फ़ासीवादी कुब्वतों ने अपनी पूरी बर्बरियत और ज़ाहिलाना ज़हनियत से 'हिंदू राट्र' की लेबोरेटरी बना डाला। गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस की वारदात के बहाने पूरी मुस्लिम आबादी को हर तरह से तबाह करने और बरबाद कर डालने की जो मुहिम चलायी गयी वह इस मुल्क के लिए तो शर्मनाक है ही, उससे पूरी दुनिया के सामने जम्हूरियतपसंद और सेक्युलर भारत की तस्वीर पर एक काला धब्बा लगा, वह भी गांधी की अपनी जन्मस्थली और कर्मस्थली में चली इस फ़ासीवादी मुहिम से, जिसने जर्मनी के नाज़ियों को भी पीछे छोड़ दिया जिन्हें आर एस एस के गुरु गोलवलकर ने 1939 में अपनी पुस्तक 'वी ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइंड' में (देखें पृ.35) अपना गुरु माना था।

पोस्टमाडर्निज्म में एक शब्द बहुत आता है, वह है 'अंत'। उसमें कंस्ट्रक्शन की जगह देरिदा का 'डि-कंस्ट्रक्शन' होता है और एक अंग्रेजी आलोचक ने तो इस बुनियाद पर ही 'डिस्ट्रक्शन' (विनाश) की थ्योरी पो कर दी। इसीलिए वहां 'आइडियोलाजी का अंत', 'इतिहास का अंत', 'कविता का अंत', 'उपन्यास का अंत', 'सौंदर्य पास्व' का अंत' वगैरह के नारे साहित्य की दुनिया में बुलंद होते रहते हैं। हमारे यहां के साहित्य में भी ये नारे पिछले कुछ अरसे से उछलने लगे, ख़ासतौर से सोवियत यूनियन के बिखर जाने के बाद मिडिल क्लास की ज़ेहनियत को यह लगने लगा कि कोई भी आइडियोलाजी चलने वाली नहीं है। फ़्रांस के एक शोधकर्ता, ज्यां फ़्रांस्वा ल्योतार ने अपनी थीसिस, 'पोस्टमाडर्न कंडीशन' में कहा कि यथार्थ को किसी मेटानैरेटिव यानी एक सर्वसंश्लेषी विचारधारा के ज़रिये नहीं समझा जा सकता। उत्तरआधुनिकता के दूसरे पैरोकारों ने तो यहां तक कह दिया कि सारी आइडियोलाजी या मेटानैरेटिवज़ तानाशाही की ओर ले जाते हैं इसलिए अब उन्हें सर्वस्वीकृति हासिल नहीं हो सकती। दर असल, यह सारा पचड़ा मार्क्सवाद पर हमले की शकल अख़्तियार करता रहा है क्योंकि ये तमाम पूंजीवादी चिंतक यह ज़रूर कहते हैं कि अब समाज में वर्ग नहीं रह गये हैं, नयी टेक्नालाजी ने उन वर्गों को बदल दिया है जो मार्क्सवाद

की बुनियाद हुआ करते थे। इस झूठ का प्रापेगंडा नयी तरह की भाषा ईजाद करके किया जा रहा है। यही वजह है कि उत्तरआधुनिकता के पैरोकार बार बार यह कहते हैं कि आइडियोलॉजी से यथार्थ को नहीं समझा जा सकता। यानी सभी तरह की आइडियोलॉजी बेकार हैं। उनका 'खात्मा' हो चुका है। हर जगह के मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों को ये नारे पसंद आये, क्योंकि आज के विकसित पूंजीवादी और बहुराष्ट्रीय शोषणचक्र में फंसे मध्यवर्ग को मानसिक तौर पर गुलाम बना कर ही साम्राज्यवाद और पूंजीवाद अपना आधिपत्य कायम किये रख सकता है। उसके लिए ज्ञानोदय काल से ले कर अब तक के तमाम प्रगतिशील मूल्यों का (और प्रगतिशील राजनीतिक विचारधाराओं का भी) विनाश करना जरूरी है। मध्यवर्ग की चेतना पर उसका वैचारिक आधिपत्य काफी मज़बूत है।

क्या इन नारों का गुजरात में हुए 'इंसानियत का अंत' से कोई संबंध है? क्या ऐसा नहीं लगता कि हमारी आज़ादी दर असल एक माडर्निटी प्रोजेक्ट थी जो अपनी पटरी से उतर गयी और उसी अधूरेपन की वजह से हमारे समाज में फ़ासीवाद जैसी आइडियोलॉजी के लिए उपजाऊ ज़मीन बनी? इस के सामाजिक पहलू पर बात करने से पहले विश्वसाहित्य की दुनिया में बरती जा रही इन अवधारणाओं (Concepts) पर कर ली जाये।

हमारे यहां के साहित्यिक विमर्श में शायद अभी तक माडर्निटी यानी आधुनिकता, माडर्निज़्म यानी आधुनिकतावाद और पोस्टमाडर्निज़्म आदि के फर्क के बारे में बहुत अधिक साफ़ समझ नहीं है और उनका इस्तेमाल अलग अलग तरीके से होता रहता है। उनमें काफी गड़मड़ भी होती रहती है। उर्दू अदब में तो शायद माडर्निटी और माडर्निज़्म के लिए अलग अलग लफ़्ज़ ही नहीं हैं, दोनों के लिए 'जदीदियत' का इस्तेमाल होता है जबकि ये दोनों अवधारणाएं एक दूसरे के उलट हैं। शायद यही वजह है कि इन अवधारणाओं को लेकर अब तक किसी न किसी तरह का विमर्श तमाम साहित्यिक पत्रिकाओं में चलता रहता है। यों तो पश्चिम के साहित्य में भी यह घपला काफी दिनों तक रहा, मगर अब ऐसे शोधपरक कार्य (Research Projects) सामने आ चुके हैं जिनसे इन अवधारणाओं को, खासकर साहित्यिक आलोचना के दायरे में, एक खास अर्थ में ही इस्तेमाल किया जाता है। उनके वर्गीय विचारधारात्मक पहलुओं पर भी काफी लिखा जा चुका है। मिसाल के तौर पर, अस्त्रदुर आइस्टीन्सन (Astradur Eysteinnsson) की किताब, *The Concept of Modernism* को देखा जा सकता है जिसमें पश्चिमी साहित्यजगत में प्रचलित माडर्निज़्म की अवधारणा को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा गया है। एक वक़्त था जब माडर्निटी और माडर्निज़्म को एक ही अर्थ में इस्तेमाल किया जाता था। मार्शल बर्मन ने अपनी किताब *All That is Solid Melts into Air: The Experience of*

Modernity में माडर्निटी और माडर्निज़्म के डाइलेक्टिकल रिश्ते को समझने की कोशिश की थी। पश्चिमी साहित्य जगत में मार्शल बर्मन की तरह ऐसे काफ़ी लेखक थे जो इन दोनों के आपसी रिश्ते को अपनी तरह से समझे गये 'प्रतिबिंबन सिद्धांत' (Reflection Theory) के दृष्टिकोण से देख रहे थे। जार्ज लुकाच ने पहली बार माडर्निज़्म की विचारधारात्मक बुनियाद को समझा था और उससे वर्गीय नज़रिये से विचारधारात्मक संघर्ष किया था। उन्होंने उन साहित्यकारों की स्थापनाओं को खारिज कर दिया था जो माडर्निज़्म को माडर्नीइज़ेशन का प्रतिबिंब मानते थे। जार्ज लुकाच ने माडर्निज़्म को यथार्थ का विरूपीकरण (डिस्टार्शन) कहा था, उसका प्रतिबिंब नहीं।

सच्चाई यह है कि साहित्यिक दुनिया में माडर्निज़्म ने हर मुल्क में सामाजिक विकास का और वैज्ञानिक चेतना के फैलाव यानी आधुनिकीकरण का विरोध किया। उसने जनवाद का भी विरोध किया और फ़ासिज़्म के पक्ष में अपने ख़यालों को कला का जामा पहनाया। पूंजीवाद जब अपने प्रगतिशील रोल को छोड़ कर प्रतिक्रियावाद (Reactionary system) की मंज़िल में दाख़िल हुआ तो उसने ऐसे विचारों को प्रश्रय दिया जो शोषित मानवता के खिलाफ़ जाते थे और मध्यवर्ग के दिमाग़ में मिथ्या चेतना को सुदृढ़ करते थे। साम्राज्यवाद ने अपने लाभलोभ के लिए मानवता के संहार के क़दम तक उठाने में हिचक नहीं दिखायी। दो विश्वयुद्ध उसी लाभलोभ की संस्कृति के उदाहरण हैं। उन दिनों हर साम्राज्यवादी देश अपने माल के लिए ज़्यादा से ज़्यादा कालोनियां या विश्व बाज़ार हड़पने की तिकड़म में लगा था, अपने माल की बिक्री के लिए उस बाज़ार को हर साम्राज्यवादी देश युद्ध के ज़रिये हासिल करना चाहता था। विश्वयुद्धों के पीछे यही बुनियादी वजह काम कर रही थी जिसने पूरी इंसानी बिरादरी को विनाश की आग में झोंक दिया था। विश्वसाम्राज्यवाद के इस मानवताविरोधी काम और क़दम का ही विचारधारात्मक पहलू माडर्निज़्म था जो साहित्यिक लफ़्फ़ाजी के ज़रिये यह पैग़ाम दे रहा था कि विज्ञान की तरक्की से ही यह तबाही हो रही है इसलिए जो इसी तरह के विकास की ओर लपक रहे हैं वे इस आधुनिकीकरण (Modernisation) की ओर न बढ़ें क्योंकि इसमें दुख ही दुख हैं। यदि सचमुच विज्ञान की ओर तीसरी दुनिया के देश न बढ़ते तो साम्राज्यवाद के लिए बाज़ार ही बाज़ार मुहैया होता जो धीरे धीरे दूसरे महायुद्ध के बाद उनके हाथों से खिसकने लगा था। इसीलिए माडर्निज़्म की आइडियोलॉजी का अदब की दुनिया में रद्दोअमल पहली आलमी जंग के बाद हुआ था जिसे कविता और उपन्यास में यूरोप की तहज़ीबी गिरावट के रोने धोने के तौर पर पेश किया गया था।

माडर्निटी की शुरुआत तो पूंजीवाद के प्रगतिशील उभार के साथ ही हर देश में हो जाती है। माडर्निटी के सही मानी हैं समाज को पुराने सामंती समाज (फ़्यूडल

सिस्टम) और उसकी सांस्कृतिक गिरावट से समाज को आज़ाद कराना और नयी रौशनी के जाबिये से किसी खुदा या देवता की बजाय इसी दीन दुनिया के बाशिंदे इंसानों की बहबूदी और तरक्की के लिए साइंस का इस्तेमाल करना। इस नज़र से देखें तो पश्चिम में माडर्निटी का प्रोजेक्ट व्यापारिक पूंजीवाद (mercantile capitalism) के उभार के साथ ही मानव समाज के सामने आ गया था और विज्ञान की तरक्की के साथ माडर्निटी का विकास होने लगा था। इसलिए ज्ञानोदय काल (Age of Enlightenment) दर असल माडर्निटी के उभार का ही दौर माना जाता रहा जिसे अब उत्तरआधुनिकतावादी चिंतक खारिज करने पर तुले हुए हैं। हमारे देश में भी माडर्निटी प्रोजेक्ट की शुरुआत देशी पूंजीवाद की पैदाइश के साथ ही हुई जब उन्नीसवीं सदी में माडर्न मशीनों के साथ भारतीय कारखानादार और उनके साथ जुड़ा नया मेहनतकश तबक्का (प्रोलीतेरियत) वजूद में आया। यहां भी वैज्ञानिक चेतना का प्रसार शुरू हुआ, नेशनलिज्म की भावना और आधुनिक शिक्षा वगैरह की शुरुआत हुई। मानवतावादी संस्कृति की यह नयी मंज़िल आधुनिक पूंजीवाद के वजूद में आने से ही शुरू हुई, माडर्निटी प्रोजेक्ट के शुरू होने की मंज़िल भी यही थी।

हमारा मुल्क इस माडर्निटी प्रोजेक्ट को पूरा करने में जुट जाता तो आज यह सूरते हाल सामने न होती जो हम देख रहे हैं। यह माडर्निटी प्रोजेक्ट अधूरा इसलिए है क्योंकि इस देश पर आज़ादी के बाद असली शासन ऐसा इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग कर रहा है जिसने अपने तरक्कीपसंद रोल से मुंह मोड़ कर पूंजीवादपूर्व की उन तमाम दफ़ियानूसी वैचारिक और सामाजिक संस्थाओं, परंपराओं और यहां तक कि उत्पादन के साधनों और उत्पादन संबंधों का खात्मा करने के बजाय उल्टे उनसे समझौता कर लिया है जिससे कि समाज आगे की तरफ़ न बढ़ पाये। इस तरह उसने हकूमत में पुराने जागीरदारों की शिरकत कायम रखी और जागीरदारी और राजशाही (Feudalism) की तमाम कुव्वतों के साथ समझौता कर लिया। फ़िरकावारियत का ज़हर भी इसी वजह से ज़िंदा बना हुआ है क्योंकि चेतना को सदियों पुराने पिछड़े ख़यालात से आज़ाद नहीं होने दिया गया और न इसके लिए कोई आंदोलन ही चलने दिया। हमारा माडर्निटी प्रोजेक्ट इस तरह अधूरा रह गया। समाज के इसी अधूरे विकास की ट्रेजेडी आज हम अपनी आंखों के सामने देख रहे हैं।

आज़ादी के दौरान जो क्रांतिकारी मूल्य उभरने शुरू हुए थे जिनमें सेक्युलरिज्म भी एक मूल्य था, आपसी भाईचारा और जनवाद जैसे मूल्य भी इसीलिए उभरे थे क्योंकि आज़ादी के लिए सभी देशवासी चाहे उनका मज़हब कुछ भी रहा हो साथ साथ लड़े थे, सबने अपना खून बहाया था। इसी वजह से हमने 26 जनवरी 1950 को एक जनवादी गणतंत्र बनाने की शपथ ली और एक आधुनिक संविधान

अपनाया जिससे कि हमारा देश भी अपने पिछड़ेपन से मुक्त हो कर एक आधुनिक लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष देश बन सके और आगे प्रगति करता हुआ समाजवाद की मंज़िल में प्रवेश कर सके। मगर हकूमत इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग और सामंती तत्वों के प्रतिक्रियावादी गठबंधन के पास ही रही जिसने सामराजी ताकतों के साथ भी समझौता बरकरार रखा और आज वे तबके इस मुल्क को पूरी बेशरमी से उन ताकतों के हाथों ही बेचे दे रहे हैं। असली हकूमत जिन तबकों के हाथ में है वे कभी कांग्रेस के ज़रिये जम्हूरियत का क़त्ल करा देते हैं जैसा कि एमर्जेसी में हुआ था, कभी बी जे पी-आर एस एस के हाथों जैसा कि आज हो रहा है। इनका वर्गीय आधार एक जैसा ही है मगर कांग्रेस कम से कम फ़िरकावाराना पार्टी नहीं है हालांकि वह फ़िरकावारियत के साथ ढीलाढाला रवैया अख़्तियार ज़रूर करती रही है। बी जे पी तो पूरी तरह एक फ़िरकावाराना पार्टी है और उसकी विचारधारा नाज़ियों की विचारधारा पर आधारित है, इसलिए इस देश की प्रगति और इसकी एकता, अखंडता और 'सावरेनिटी' के लिए ख़तरा पैदा करने वाली पार्टी है। उसके पास किसी भी तरह का कोई विकास प्रोग्राम नहीं है, उसका हर कदम विनाश, 'अंत' या 'डि-कंस्ट्रक्शन' का है, 'डिमालीशन' या 'डिस्ट्रक्शन' का है। इज़ारेदारी निज़ाम के मार्फ़त इस उल्टी गंगा बहने के ही ये नताइज हैं कि हम गुजरात में उसका फ़ासीवादी नाज़ी चेहरा देख रहे हैं। साहित्य में जो एजेंडा उत्तरआधुनिकतावादियों का है वही राजनीतिक स्तर पर फ़ासिस्टों का है। पश्चिम के अनेक प्रगतिशील आधुनिक चिंतकों ने विचार-धारा की इस कड़ी के उसी तरह संकेत दिये हैं जैसे आधुनिकतावादियों के फ़ासिस्ट विचारधारा से जुड़े होने के दिये थे। जान आर हैरिसन ने अपनी पुस्तक 'द रिपब्लिकनरीज़' में एलियट, एजरा पाउंड और येट्स जैसे अंग्रेज़ी कवियों के विचारों में निहित प्रतिक्रियावाद का अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया था। आज के समय में उत्तरआधुनिकतावाद के भी वर्गीय आधार को सामने लाया जा रहा है। डेविड हार्वे ने पोस्टमार्डर्निज़्म को 'ट्रांसनेशनल कैपिटलिज़्म' की विचारधारा करार दिया और फ़्रेडरिक जेम्सन ने इसे बूढ़े साम्राज्यवाद की वकालत करने वाली विचारधारा माना।

मार्डर्निज़्म दर असल मार्डर्निटी प्रोजेक्ट शुरू होने से पैदा हुए उन तमाम मानवमूल्यों को नकारनेवाला एक प्रतिक्रियावादी साहित्यिक आंदोलन था जिन्हें इंसान ने ज्ञानोदय काल से ले कर अब तक ज्ञान विज्ञान के विकास के साथ हासिल किया था। पहली जंग के बाद अंग्रेज़ी में टी एस एलियट ने खासतौर पर शायरी में और अपने लेखों में मार्डर्निज़्म की आइडियोलॉजी की नींव रखी थी। फ़्लसफ़ाई सतह पर नीलेश की विचारधारा जो खुले तौर पर फ़ासीवाद के साथ खड़ी थी मार्डर्निज़्म के लिए ज़मीन तैयार करती थी। हाइडेगगर का फ़्लसफ़ा भी आधुनिकतावादी चिंतन को

मज़बूत करता था। इस तरह विश्वपूँजीवाद के प्रतिक्रियावादी दौर में कला और साहित्य की दुनिया में माडर्निज़्म ने फ़लसफ़ाई जामा पहन कर अपना रंग जमाया था। इस आंदोलन ने माडर्निटी के विकास के विरोध को मुखर किया और तमाम दकियानूसी, घोर व्यक्तिवादी और अवैज्ञानिक विचारसरणियों को स्थापित करने की कोशिश की थी। सोवियत क्रांति के बाद के दौर में प्रालीतेरियत ने विश्वपूँजीवाद की तमाम कमज़ोर कड़ियों को तोड़ देने का जो ख़तरा पैदा कर दिया था, उससे निपटने का एक तरीका यह था कि थोड़े विकसित किस्म के पूँजीवादी नवस्वाधीन देशों की सतह पर यह शोर मचाया जाये कि हर इंसान अकेला ही पैदा हुआ है और अकेले ही मर जायेगा, जनता या संगठित जन आंदोलन तो 'भीड़' है और इस भीड़ में शामिल होने का मतलब है--अपनी अस्मिता का विलय। शीतयुद्ध के दौरान माडर्निज़्म की आइडियोलॉजी का अदब की दुनिया में खूब प्रापेगंडा किया गया और इसके लिए सी आइ ए जैसे इदारे तक का भरपूर इस्तेमाल किया गया। हमारे यहां, खासतौर से हिंदी अदब में इस आइडियोलॉजी का प्रापेगंडा करने का काम स्व. अज्ञेय को बाक़ायदा सौंपा गया था। (देखें, डा. जवरीमल्ल पारख की हिंदी किताब, *नयी कविता का वैचारिक आधार*, पृ.5-9) अज्ञेय की एक कविता, 'सवेरे उठा तो', इस आधुनिकतावाद की सारी फ़लसफ़ाई अवधारणाओं को समेटे हुए है :

...ये ही सब चीजें तो प्यार हैं

यह अकेलापन, यह अकुलाहट, यह असमंजस, अचकचाहट, आर्तअननुभव

यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय विरह-व्यथा,

यह अंधकार में जागकर सहसा पहचानना कि

जो मेरा है वही ममेतर है

इसी तरह उनकी ढेर सारी कविताएं, और उनका कथा साहित्य भी, आत्मनिर्वासन (सेल्फ़ एलियनेशन), ऊब, संत्रास, अस्मिता के विलय आदि के लटके झटके समेटे हुए हैं। ये सारे शब्द आधुनिकतावाद के क्लीशे के रूप में पहचाने जाते हैं। पश्चिम में तो यहां तक कहा गया कि अगर कोई रचना इन सार्वभौमिक तत्वों (अकेलापन वगैरह) की बुनियाद पर रची हुई हो तो किसी भी ज़माने की हो या दूर अतीत के किसी रचनाकार की ही रचना क्यों न हो वह आधुनिकतावादी ही मानी जायेगी। इस आधार पर शेक्सपीयर का *हैमलेट* नाटक एक आधुनिकतावादी रचना है, और अगर कोई रचना इस तरह की थीम से लैस नहीं है तो वह मौजूदा दौर की होते हुए भी आधुनिकतावादी नहीं कही जायेगी। इस आधुनिकतावाद का अच्छा खासा रोना गाना हमारे साहित्य में 1950 के बाद के दो दशकों तक चलता रहा, इसके वैचारिक

खोखलेपन और इसमें रची बसी झूठी बौद्धिकता को हिंदी में बहुत ही सलीके से मुक्तिबोध ने उजागर किया। उन्होंने अपनी कविताओं में भी बार बार कहा कि 'मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते', 'मुक्ति कभी अकेले में नहीं मिलती, यदि वह है तो सबके साथ है।' उन्होंने इसीलिए मध्यवर्ग को यह पैगाम दिया कि उसकी आजादी तमाम मजलूमों के साथ ही होगी, इसलिए मध्यवर्ग को अपनी मिथ्या चेतना छोड़ कर अपने वजूद को शोषित-उत्पीड़ितों के प्रतिनिधि सर्वहारावर्ग के साथ मिला देना चाहिए जिससे कि वह और ताकतवर बनकर पूंजीवादी-सामंती लोकतंत्र की जगह एक सच्चा जनवादी गणतंत्र स्थापित कर सके और ऐसा समाज बना सके जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण हमेशा के लिए खत्म हो जाये। इस संदेश को मुक्तिबोध ने अपनी खूबसूरत कविता, 'चंबल की घाटी में' प्रतीकात्मक और काव्यात्मक तरीके से हम सबको दिया है। उन्होंने लिखा, 'लुढ़को' यानी अपने इस मध्यवर्गीय अस्तित्व से नीचे की तरफ आओ, अपने को 'डिक्लास' करो, प्रालीतेरियत के पक्ष में वर्गसंतुलन(class-realignment) बनाने में मदद करो, तभी मध्यवर्ग भी शोषणपाप के परंपराक्रम से मुक्ति पा सकता है, नहीं तो वह अपनी छाती पर इज़ारेदार सरमायादारी को यों ही ढोता रहेगा और इस समाज को बदहाल बनाये रखने में जाने अनजाने हिस्सेदारी करता रहेगा। उन्होंने अपनी गद्य रचनाओं में भी साफ़ साफ़ मार्क्सवाद के उन तमाम सिद्धांतों की ऐसी तैसी की जिनका हवाला अज्ञेय की रचनाओं में मिलता है जो उसी दौर में अमेरिकी साम्राज्यवाद के अदबी एजेंडे पर अमल करते हुए 'कांग्रेस फ़ार कल्चरल फ़्रीडम' की रहुनुमाई कर रहे थे।

आज उत्तरआधुनिकतावादी भी जाने अनजाने उसी अमेरिकी साम्राज्यवाद की दिमागी गुलामी कर रहे हैं जिसकी गुलामी आर-एस-एस जैसे फ़ासिस्ट संगठन और उनकी केंद्र सरकार और गुजरात की राज्य सरकार कर रही है। दहशतगर्दी के खात्मे के बहाने अमरीकी निज़ाम इराक़ से ले कर अफ़ग़ानिस्तान और हिंदुस्तान तक या तो सीधे सीधे ग़रीब, मजलूम और साम्राज्यवाद की मुख़ालिफ़त करनेवाले एशियाई अवाम को तबाह करने के लिए नित नयी योजनाएं बना रहा है और अमरीका की हां हज़ूरी करने वाले निज़ामों को शह दे रहा रहा है या फिर हिंदुस्तान की बी जे पी जैसी पार्टी को अपनी गिरफ़्त में ले कर समाजी सतह पर उत्तरआधुनिकतावादी फ़लसफ़ा यानी विनाश और अंत का फ़लसफ़ा लागू करवा रहा है जो कि उस आर एस एस ही का पहले से ही जान पहचाना फ़लसफ़ा है। आजादी के दौर में उसने अवाम की एकता का विखंडन किया, आजादी के बाद गांधी का अंत, फिर गांधीवाद का अंत और इस समय गांधी की जन्मभूमि और कर्मभूमि का अंत उसके एजेंडे पर है। साम्राज्यवाद का ऐसा वफ़ादार चाकर इज़रायल के शासकों के बाद आर एस एस ही है और इसने तो आजादी के दौर से ही यह वफ़ादारी बाकायदा निभायी है जिसके

अनेक प्रमाण लिखित रूप में मौजूद हैं। भारत में आर एस एस का एजेंडा और उत्तर-आधुनिकतावाद का क्लीशे एक ही है, वही 'डिकंस्ट्रक्शन' वही 'डिस्ट्रक्शन' और 'डिमोलीशन' और अब इसमें और भी 'डि' जुड़ गये हैं। सदियों से इंसान ने जो ज्ञान विज्ञान द्वारा और क्रांतिकारी संघर्षों द्वारा मानवमूल्य तथा प्रगति के विचार आधुनिक विचार सरणियां हासिल की हैं उन सब का अंत ही आर एस एस का एजेंडा है। समाज को आगे ले जाने के बजाय पीछे की ओर जुल्मतों के दौर में ले जाने की साज़िश। भारत के इन नाज़ियों से निपटने का एक ही तरीका है, वह है तमाम सेक्युलर, जम्हूरियतपसंद और अमनपसंद अवाम की एकता। यह एक बड़ी जंग है और अवाम की एकजुटता से ही इन नाज़ियों की औलादों के खिलाफ़ यह जंग जीती जायेगी जो हमारे मुल्क का विकास रोक कर उसे सदियों पीछे धकेलने में लगे हैं। ये भारतीय अवाम के सगे न हो कर उस विश्वपूंजीवाद के गुलाम हैं जो चाहते हैं कि ग़रीब जन आपस में मज़हब के नाम पर खून ख़राबा करते रहें और साम्राज्यवादी देश और देशी सरमायार-जागीरदार तबके बेरोकटोक इस मुल्क के मेहनतकश अवाम का खून चूसते रहें और उन्हें फिरकावारियत या पाकिस्तान के साथ जंग या इसी तरह के किसी 'खात्मे' वाली वारदात में मुब्तिला रखे रहें। इसी धिनौने इरादे से उन्होंने गुजरात को अपनी प्रयोगशाला बनाया। बेशरमी की हद यह है कि अपनी इन काली करतूतों को वे 'गौरव' की संज्ञा दे रहे हैं जिसे ज्ञापित करने के लिए वे गौरव-यात्रा की तैयारियां कर रहे हैं। इस देश की जनता आने वाले दिनों में इन की इन काली करतूतों के लिए जो अब तो हर दिन उजागर हो रही हैं ऐसा सबक सिखायेगी जिससे उबरना इनके लिए शायद ही कभी संभव हो।

**उर्दू पत्रिका, ज़हने जदीद में प्रकाशित
रचनाकाल संभावित 2007**

‘लोकधर्मी’ आलोचना का विचारधारात्मक आधार

चंचल चौहान

‘लोक’ से हमारा क्या तात्पर्य है? क्या हर युग में ‘लोक’ का अर्थ एक जैसा रहा है? मेरे विचार से इस शब्द का सारतत्व सामाजिक विकास की मंज़िलों के दौर में बदलता रहा है। समाज की आदिम विकास-अवस्था में ‘संपत्ति’ की जब अवधारणा पैदा नहीं हुई थी, तब सारा समाज ‘लोक’ ही था, ‘सबै भूमि गोपाल की’। जब दास युग आया तो दो वर्ग हो गये, एक वर्ग प्रभुवर्ग हो गया दूसरा दासों का वर्ग। उस अवस्था में ‘लोक’ केवल दासवर्ग का पर्याय बना। रमेश कुंतल मेघ ने अपनी आलोचना-कृति, *तुलसी : आधुनिक वातायन से* में सही ही ‘लोक’ का अर्थ अंग्रेज़ी के ‘फ़ोक’ से उस युग संदर्भ में लिया है (पृ.91)। सामाजिक विकास की अगली मंज़िल ‘सामंती युग’ के रूप में सामने आयी तो सीधा विभाजन ‘राजा’ और ‘प्रजा’ की तरह देखा जा सकता है जिसमें ‘प्रजा’ ही ‘लोक’ की तरह जानी गयी। उसके बाद सामाजिक विकास की आधुनिक मंज़िल ‘पूँजीवादी युग’ के रूप में हमारे सामने है जिसकी चरम अवस्था ‘साम्राज्यवाद’ की मंज़िल है और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के नये अवतार में विश्वव्यवस्था की तरह आज की दुनिया पर हावी है जिसमें हम सब रह रहे हैं। जिन देशों में साम्राज्यवाद से मुक्त होने के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ाइयां हुईं उनमें उस दौर में समूचे राष्ट्र के नागरिक ‘लोक’ की श्रेणी में आये। हिंदी में रामचंद्र शुक्ल की आलोचना में जो ‘लोक’ दिखायी देता है वह भारत के सभी वर्गों की यानी एक सर्वसमावेशी अवधारणा है जिसमें ‘राजा’ और ‘रंक’ सभी शामिल हैं। निराला की ‘राम की शक्तिपूजा’ में जिस ‘शक्ति’ की ‘मौलिक कल्पना’ करने की सलाह है वह भी साम्राज्यवाद के खिलाफ़ समूची भारतीय जनशक्ति को आज़ादी के पक्ष में करने की कल्पना है, रामचंद्र शुक्ल का ‘विरुद्धों का सामंजस्य’ भी यही मांग करता है, उनका ‘लोक’ भी सर्वसमावेशी है, अभेद की बुनियाद पर एकजुट भारतीय जन जिसमें देश के नवोदित पूँजीपतिवर्ग से ले कर सर्वहारावर्ग तक सब आज़ादी के पक्ष में खड़े हों। ऐसी एकजुटता से ही भारतीय समाज आज़ादी की मंज़िल के रूप में विकास की अगली अवस्था में दाखिल हो सकता था। यह अहसास उस वक्त हमारे उन बुद्धिजीवियों और रचनाकारों को था जो आज़ादी के लिए सन्नद्ध थे, सांप्रदायिक राजनीति जरूर इस एकता को तोड़ने और आज़ादी की लड़ाई को

कमज़ोर करने में लगी थी और आज भी उसी चाल पर चल रही है।

आज़ादी हासिल हो जाने के बाद अब 'लोक' का अर्थ वही नहीं रह गया जो आज़ादी के दौर में था। अब एक नयी वर्गीय विभाजक रेखा खिंच गयी। इस नये वर्गीय यथार्थ को समझने के लिए आधुनिक युग का सबसे अधिक तर्कसंगत वैज्ञानिक और क्रांतिकारी दृष्टिकोण ही काम आ सकता है जिसे हम मार्क्सवाद-लेनिनवाद के नाम से जानते हैं। यह विश्वदर्शन सिर्फ़ किताब में लिखी इबारत नहीं है, यह 'प्रैक्सिस' भी है, जो हमारे चाहने या न चाहने से अवरुद्ध नहीं होती, वह विश्व सर्वहारावर्ग का दर्शन है जो अपने अपने समाजों में क्रांतिकारी बदलाव लाने के लिए अमल की मांग करता है। जिस तरह पूंजीपतिवर्ग अपने निहित स्वार्थों के तहत अपनी दलगत राजनीति से शोषण और दमन का निज़ाम कायम करता है, सर्वहारावर्ग भी हर देश में इस अन्याय और शोषण के प्रतिरोध के लिए अपना हिरावल दस्ता राजनीतिक पार्टी के रूप में समाज में लाता है जो उसके लिए 'रणनीति' बनाता है जिसका अर्थ यह होता है कि वह अपने अपने समाज के विकास की अगली मंज़िल तय करता है और उस मंज़िल तक पहुंचने के लिए एक 'कार्यक्रम' की रचना करता है, जिसके आधार पर वह राजनीतिक पार्टी की एक संगठित शक्ति बनता है, उसी के नेतृत्व में समाज के विभिन्न हिस्सों को सर्वहारावर्ग वर्गीय आधार पर संगठित करता है और राजनीति में रोज़मर्रा के हस्तक्षेप के लिए 'कार्यनीति' तय करता है। इस प्रक्रिया में कभी स्वतंत्र गतिविधि करता है तो कभी संयुक्त मोर्चा गठित करता है।

आज के समय में भारतीय समाज में 'लोक' का यथार्थपरक सारतत्व सर्वहारावर्ग के इसी विश्वदर्शन से ही समझा जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि आज वर्गीय विभाजक रेखा वह नहीं रह गयी है जो आज़ादी की लड़ाई के दौर में थी। रामचंद्र शुक्ल के सर्वसमावेशी 'लोक' में अब दरार आ गयी है, प्रगतिवादी दौर के 'लोक' की परिकल्पना भी बदल गयी है। सैद्धांतिक स्तर पर डा. रामविलास शर्मा ने भी इशारा किया है। जब वे रामचंद्र शुक्ल का यह उद्धरण देते हैं कि 'मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है' तो वे 'लोक' के वर्गीय विभाजन का भी जिक्र करते हैं और लिखते हैं :

इस लोक में अनेक वर्ग, देश, जाति के भेद हैं, ये भेद भी कालक्रम में परिवर्तित होते रहते हैं। लोक स्थायी और जड़ इकाई नहीं है, वह गतिशील और विकासमान इकाई है।

(देखें, *जनपथ* : नवंबर 2012, पृ.12)

आज़ादी के बाद भारत में नया वर्गीय विभाजन हो चुका है जिसमें भारतीय समाज

का ही एक हिस्सा सत्ता पर काबिज़ है और शोषकवर्गों के रूप में उसका अस्तित्व है, बाकी हिस्से उसके अधीन शोषित जीवन जी रहे हैं। हम साहित्यकारों के बीच सारा झगड़ा इसी विभाजक रेखा की व्याख्या या अज्ञता को ले कर है। सच्चाई तो यह भी है कि सर्वहारावर्ग की राजनीति में जो फांकें दिखती हैं उनका आधार भी इसी विभाजक रेखा के बारे में मतभेद हैं जो पार्टी-प्रोग्रामों में बाकायदा दर्ज हैं। इस विभ्रम का अक्स हमारी आलोचना और रचना और सौंदर्यशास्त्रीय बहसों पर भी दिखायी देता है, संगठनों के अलग अस्तित्व का भी यही आधार है। इस सचाई को अनदेखा करके हम एक तरह की रूमनियत का शिकार तो हो सकते हैं, मुक्तिबोध की तरह गहन विश्लेषणात्मक विमर्श के लायक क्षमता अर्जित नहीं कर सकते।

भारत एक अदभुत देश है जिसमें आदिम उत्पादन प्रणालियों से ले कर अधुनातम पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली तक मौजूद है। यही बहुलता उत्पादन के रिश्तों में भी है। मगर इस सब के बावजूद यह तो तय करना ही होगा कि कौन से सामाजिक वर्ग 'लोक' की क़तार में आते हैं और कौन से वर्ग शोषकवर्ग माने जायें या वास्तविकता में मौजूद हैं। सबसे ऊपर की क़तार में साम्राज्यवादी देशों के पूंजीपति, बड़े इज़ारेदार घराने और बड़े भूस्वामी वर्ग आते हैं, उसके बाद, उससे नीचे की क़तार में छोटे मोटे पूंजीपति जिन्हें 'राष्ट्रीय पूंजीपति' या गैरइज़ारेदार पूंजीपति कहा जाता है, तथा धनी किसान, मध्यवर्ग, छोटे किसान, भूमिहीन किसान, सर्वहारावर्ग आते हैं। यदि वर्गों की इस क़तारबंदी को यथार्थवादी तरीके से समझने की कोशिश करें तो मेरे विचार से इस वर्गीय ढांचे में सबसे ऊपर इज़ारेदार पूंजीपति और बड़े भूस्वामियों का गठजोड़ जो साम्राज्यवाद और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के साथ समझौता करता रहता है शोषकवर्गों की श्रेणी में आता है और बाकी वर्ग यानी राष्ट्रीय पूंजीपतिवर्ग से ले कर सर्वहारावर्ग तक शोषितों की श्रेणी में आते हैं। शोषकवर्गों का नेतृत्व इस समाज में इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग कर रहा है, आज के दौर में उसकी नियंता शक्ति अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी बन गयी है। आज़ादी के बाद सत्ता पर भी वही इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग काबिज़ हुआ था और आज भी है। दूसरे पाले में शोषितवर्गों का नेतृत्व सर्वहारावर्ग कर रहा है, इस तरह मेरी अपनी समझ से वर्गसंघर्ष की मौजूदा मंज़िल का यह वर्गीय यथार्थ है। सर्वहारावर्ग ने भारतीय समाज की अगली मंज़िल को 'जनता का जनवाद' कहा है जिसमें उसके सभी मित्रवर्गों यानी राष्ट्रीय पूंजीपतिवर्ग समेत मध्यवर्ग, धनी किसान, ग़रीब किसान और भूमिहीन किसानों तक की शिरकत होगी। यदि वर्गों की यह नयी क़तारबंदी तर्कसंगत और सही है तो फिर आज के युग में 'लोक' की श्रेणी में ये सारे वर्ग आते हैं। सर्वहारावर्ग के पक्ष में इस नयी वर्गीय क़तारबंदी का होना सामाजिक बदलाव की नयी मंज़िल के लिए उसी तरह ज़रूरी है जिस तरह आज़ादी की लड़ाई की विजय के लिए समूचे भारतीय

जनगण की एकता ज़रूरी थी जिसे निराला ने 'शक्ति की मौलिक कल्पना' कहा था। आज के बदले वक्त में इस नयी वर्गीय कृतारबंदी में ही 'लोक' का वजूद है और 'लोकधर्मी' होने का सही अर्थ सर्वहारावर्ग के तमाम दोस्त वर्गों के साथ दोस्ताना सलूक करना है, उन पर ही लाठी भांजना नहीं है।

दुर्भाग्य से हमारे हिंदी के कुछ तथाकथित 'लोकधर्मी' आलोचक जिनमें, अपने शुरुआती दौर में, मैं खुद भी शामिल माना जाता था इस कृतारबंदी का खयाल न रख कर केवल मज़दूर-किसानों के प्रति रूमानी लगाव रखते हुए अंग्रेज़ी कवि विलियम वर्डस्वर्थ के लोकधर्मी काव्यालोचन या उसकी जैसी कविता को ही अपना आदर्श मानते हैं। इस दोषपूर्ण नज़रिये से हमारे तथाकथित लोकधर्मी काव्यालोचन ने ऐसे बहुत से सच्चे लोकधर्मी रचनाकारों को शोषकवर्गों के पाले में फेंक दिया जिनकी रचना अपनी पूरी कलात्मक क्षमता के साथ शोषकों के उसी अधिनायकत्व के खिलाफ़ अपनी गुहार लगा रही थी, 'फटा सुथन्ना पहने जिसके गुन हरचरना गाता है'। सर्वहारावर्ग के हर सच्चे हितैषी की संवेदना में एक गहरी चिंता इस बात को ले कर होनी ही चाहिए कि किस तरह भारत का हर चिंतनशील बुद्धिजीवी, रचनाकार, कलाकार हमारे समाज के विकास की अगली मंज़िल में अपना योगदान देते हुए सर्वहारावर्ग के प्रयासों का सहयोगी हो। अभी तो 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति'। सर्वहारावर्ग की कोशिश है कि यह वर्गीय शक्तिसंतुलन उसके पक्ष में बन जाये जिससे हमारा समाज विकास की अगली मंज़िल में दाखिल हो सके। इसी प्रयास को बल पहुचाने के लिए यह ज़रूरी है कि लोकधर्मी आलोचना की गहरी चिंता भी यही होनी चाहिए कि वह हर प्रतिभासंपन्न रचनाकार, कलाकार, लेखक के रचे हुए को अपने ज्ञानात्मक संवेदन के दायरे में सहानुभूतिपूर्वक और दोस्ताना तरीक़े से व्याख्यायित करे जैसे मुक्तिबोध ने एक समय में ऐसे बहुत से रचनाकारों की कृतियों की रचनात्मक समीक्षा की थी जो खुले तौर पर प्रगतिवाद के निंदक थे और सर्वहारावर्ग की विचारधारा के विरोध में अपनी शक्ति लगा रहे थे। खुद लेनिन ने तोल्स्तोय के रचनाकर्म के प्रति यही रवैया अख़्तियार किया था। लेनिन ही क्यों, खुद मार्क्स ने बाल्ज़ाख़ के कृतित्व को इसी नज़रिये से सराहा था। मुक्तिबोध अपने दायित्व को समझते हुए आलोचनाकर्म में भी इसी बड़े सरोकार से परिचालित थे कि सर्वहारा के पक्ष में अधिक से अधिक रचनाकार खड़े हों। इसलिए वैचारिक मतभेद के बावजूद वे किसी तरह की घृणा या गुस्सा या व्यक्तित्व हनन को आलोचना के भीतर नहीं आने देते थे। मुक्तिबोध का डा. रामविलास शर्मा से इसी रवैये के कारण मतभेद था। डा. रामविलास शर्मा ने तो शमशेर, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर और न जाने किस किस को 'रहस्यवादी', 'अस्तित्ववादी' और इस तरह प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिया था जब कि इनमें से किसी भी कवि की एक भी रचना की संपूर्ण

व्याख्या करके या रचना के भीतर पूरी तरह धंसकर उन्होंने अपनी 'लोकधर्मी' आलोचना का कभी परिचय नहीं दिया। उनकी पूरी आलोचना, रचना में से कुछ शब्द चुन कर रचनाकार की निजी जिंदगी को 'पतित' या 'पावन' सिद्ध करने में रस लेती थी। उन्होंने अपने चहेते कवि दोस्तों के साथ भी यही सलूक किया। रचना के समाजसापेक्ष विश्लेषण की पद्धति अपनाने के बजाय उनकी निजी जिंदगी से कविता को जोड़ कर कवि व्यक्तित्व की सराहना की। रचना को कभी समाजसापेक्ष स्वायत्त इकाई न मान कर, उल्टे उस रचना को रचनाकार की निजी जिंदगी का एक टुकड़ा मान कर या तो रचनाकार पर दरोगाई अंदाज में लड्डू बरसाये या राजा या ज़मींदार की तरह खुश हुए और पीठ थपथपा कर खुश कर दिया क्योंकि अशर्फियां तो जेब में थीं नहीं जो चहेते कवि को दे देते!!!। हमारी 'लोकधर्मी' आलोचना का यह निकृष्ट रूप है क्योंकि इस तरह का आलोचनाकर्म सर्वहारावर्ग के सांस्कृतिक सरोकारों से मीलों दूर है, तथाकथित लोकधर्मी आलोचकों की चेतना में वह सरोकार रचाबसा ही नहीं है। सर्वहारावर्ग की कृतार का विशाल दायरा, जो उसने विकास की नयी मंज़िल पाने के लिए वैज्ञानिक तरीके से अपने दस्तावेजों में अंकित कर रखा है बहुत से तथाकथित लोकधर्मी आलोचकों की नज़र में रहता ही नहीं। या शायद उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं है कि लोकधर्मी होने का अर्थ क्या है। ऐसी आलोचना कई बार, चरित्रहनन का रूप ले लेती है और एक जागरूक पाठक को यह आभास कराती है कि आलोचक की पैठ रचना में है ही नहीं, वह तो सिर्फ़ निंदा या प्रशंसा वाली सतही आलोचना है। दर असल, सुनी सुनाई अफवाहों के आधार पर चरित्र हनन तो आसान है, रचना का विश्लेषण कष्टसाध्य प्रक्रिया है, अपनी समकालीन रचना के मामले में तो यह हमेशा सच रहा है। तभी तो रामचंद्र शुक्ल को छायावादी रचनाएं ठीक से समझने में परेशानी हुई। उन्होंने लिखा : 'भला देश की नयी 'जागृति' से, देशवासियों की दारुण दशा की अनुभूति से और असीम-ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झांकी आदि का क्या संबंध? क्या हिंदी के वर्तमान साहित्य क्षेत्र में शब्द और अर्थ का संबंध बिलकुल टूट गया है? क्या शब्दों की गर्दभरी आंधी विलायत के कला क्षेत्र से धीरे धीरे हटती हुई अब हिंदी वालों का आंख खोलना मुश्किल करेगी?' शुक्ल जी अपनी ही उस मान्यता को भूल गये जिस में उन्होंने कहा था कि 'वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कला-निरूपिणी समीक्षा है। उसी का नाम समीक्षा है।' वे नहीं समझ पाये कि उनकी अपनी चेतना और छायावादी रचनाओं में निहित संवेदना और भावबोध स्वाधीनता की चेतना से गहरी जुड़ी हुई प्रक्रियाएं थीं। छायावाद और प्रगतिवाद तथा अन्य साहित्यिक गतिविधियां स्वाधीनता की कामना के ही विविध रूप थे जो नये नये शिल्प और नयी नयी शैलियों में अभिव्यक्त हो रहे थे। इसी तरह डा. रामविलास शर्मा भी अपने समय के रचनाकर्म

का सही विश्लेषण नहीं कर पाये। आज भी उनके कुछ एक चले चपाटों ने उसी तरह का रवैया समकालीन रचनाकर्म के साथ अपनाया हुआ है और 'लोकधर्मी' काव्यालोचन के नाम पर आलोचनात्मक विवेक का एक संकीर्ण दायरा खींच कर कवियों को 'लोकधर्मी' या 'प्रतिक्रियावादी' की खतौनियों में खतिया दिया है। रचना का वस्तुगत विश्लेषण न कर के व्यक्ति व्यक्ति को देख कर तमाचा मारना ही 'लोकधर्मी' काव्यालोचन की विशेषता मान लिया गया है। अपने सारतत्व में यह सदियों से भीतर पैठे सामंती भावबोध का ही एक रूप है, जो 'लोकधर्मी' मुखौटे में अपने अप्रिय लेखकों को तो हाथी के पैरों तले कुचल देना चाहता है तथा अपने प्रिय कवियों को अशर्फियां लुटा देना चाहता है। बस फर्क इतना है कि प्रिय और अप्रिय को 'वर्गमित्र' और 'वर्गशत्रु' के नये शब्दों में ढाल देता है।

'लोकधर्मी' काव्यालोचन की एक प्रवृत्ति उसका अनजाने रूपवादी होना है। अगर किसी 'अपने' कवि की कविता में गांव, देहात, खेत, खलिहान आदि के बिंब हैं, गांव देहात से जुड़े पशु पक्षी हैं, पालतू जानवर हैं, खेती से जुड़े काम धंधों के बिंब हैं तो ऐसी रचना आदर्श 'लोकधर्मी' रचना मानी जायेगी, इस एप्रोच से केदारनाथ अग्रवाल की कविता आदर्श मान ली जाती है, और अगर केदारनाथ सिंह की कविता में यही सब है, तो वे 'बिंबवादी' कलावादी और इस तरह 'प्रतिक्रियावादी' खतौनी में डाले जा सकते हैं, इस तरह की 'लोकधर्मी' आलोचना-दृष्टि को रघुवीर सहाय की कविता या विजयदेव नारायण साही की 'साखी' भी काबिले बर्दाश्त नहीं हैं, 'साखी' संकलन की कविताएं तो चर्चा के लायक भी नहीं मानी गयीं। ये आलोचक यह नहीं जानते कि इस तरह के 'लोकधर्मी' काव्यालोचन से आलोचनाकर्म की अपनी विश्वसनीयता को ही क्षति पहुंचती है, क्योंकि उससे अनेक पूर्वग्रहों के कारण 'पाठ' विश्लेषण में अर्थ का अनर्थ होता देखा गया है।

दोषपूर्ण 'लोकधर्मी' काव्यालोचन के लिए, मेरे विचार से, कवि की अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता की घोषणाएं ज्यादा महत्व की हो जाती हैं, इससे ही पूर्वग्रह और पक्षपातपूर्ण या द्वेषपूर्ण रवैया अपना लिया जाता है, प्रतिबद्धता की घोषणा का स्वीकार ही 'लोकधर्मी' काव्यालोचन को विकृत बना देता है। हम शमशेर की उस मशहूर सलाह को भूल जाते हैं कि 'बात बोलेगी, हम नहीं'। रचनाकार का रचा हुआ ही आलोचना के केंद्र में रहना चाहिए, न कि उसके अपने वैचारिक उद्घोष। रचनाकार की अपनी निजी जिंदगी का रचना में अक्सर तलाश करना और भी ग़लत व अवैज्ञानिक रवैया है। इससे रचना की वस्तुनिष्ठता की अनदेखी होती है। इस पर निराला से ले कर रोलां बार्थ जैसे दुनिया के अनेक चिंतकों ने लिखा है। पश्चिम में तो इसे 'बायोक्रिटिसिज़्म' कह कर खारिज कर दिया गया है, मगर हमारे 'लोकधर्मी' आलोचक आज भी कविता की किसी भी पंक्ति को पकड़ कर रचनाकार

की निजी जिंदगी पर टिप्पणी करने से नहीं चूकते। यह प्रवृत्ति प्रगतिवादी दौर के 'लोकधर्मी' आलोचकों से ले कर आज के ज़माने तक के काव्यालोचन में जड़ जमाये है। डा. रामविलास शर्मा ने 'राम की शक्तिपूजा' में राम का एकालाप देखा, 'धिक जीवन को जो पाता ही आया है विरोध/ धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध' तो इस पंक्ति को झट से सीधे निराला के जीवन से जोड़ दिया। दूसरे आलोचकों ने भी उसे दोहराया। 'इग्न्यू' के लिए निराला पर लिखे अपने एक पाठ में इस तरह की लोकधर्मी आलोचना का सप्रमाण सविस्तार ज़ायजा मैंने लिया था। उस अंश को ज्यों का त्यों मैं यहां दे देना ठीक समझता हूं जिससे मेरा यह अपनों का ही क्रिटीक सिर्फ फ़तवेबाज़ी या 'पर उपदेश' न लगे। मैंने लिखा था :

“निराला के जीवन और साहित्य पर डा. रामविलास शर्मा ने सबसे अधिक लिखा है। उनकी आलोचना पद्धति को बारीकी से देखें तो वहां एक शब्द बार बार आता है : 'निराला का मन' या 'निराला स्वयं'। वे लिखते हैं, 'निराला के मन में गंध के प्रति प्रबल आकर्षण है'। फिर शूर्पणखा के एक कथन से 'गुलाब' का उदाहरण देते हुए 'शूर्पणखा के मन में राम का सौंदर्य गुलाब जैसा' बताते हैं और दो पंक्तियों का उद्धरण दे कर टिप्पणी करते हैं कि 'यहां कवि के मन में गुलाब के प्रति कोई ऐसा मोह नहीं है जिसे भंग करना आवश्यक हो।' निराला की कविता, 'स्फटिक शिला' की व्याख्या करते समय जहां वे निराला द्वारा 'एक सद्यस्नाता युवती का चित्रण' बताते हैं वहीं यह भी कहते हैं कि 'रवींद्रनाथ की विजयिनी यहां फिर अवतरित हो गयी है', मगर इस वस्तुगत काव्यवस्तु को कुछ ही पंक्तियों के बाद निराला के व्यक्तिगत जीवन से जोड़ देते हैं, 'स्वयं कवि उसके सौंदर्य का प्रत्यक्षदर्शी है'। फिर निराला के 'मन' पर आ जाते हैं और कहते हैं, 'मोह और मोहभंग के बीच निराला का मन जैसे झूलता था, यह कविता उसका प्रमाण है। डा. रामविलास शर्मा की आलोचना-पद्धति का यह मूल स्वर रहता है कि वे कवि की कविताओं को उसकी निजी जिंदगी से या उसके 'मन' से जोड़ते हैं। 'राम की शक्तिपूजा' जैसी नाटकीय कविता को भी वे निराला के 'मन' से जोड़ देते हैं। उन्होंने लिखा है कि 'राम की शक्तिपूजा' लिखते समय निराला का मन एक ओर पराजय, ग्लानि, विजयकामना के संघर्ष में उलझा हुआ था, समुद्रतट पर अंधकार में वानर सेना के बीच विपर्यस्त लटों वाले राम को देख रहा था, दूसरी ओर अब तक जो पढ़ा-गुना था, उसे समेटकर - उसके सारतत्व को ले कर - काव्यचित्रों को सजा रहा था'। इसी तरह, *अनामिका* की एक कविता की व्याख्या करते हुए डा. रामविलास शर्मा निराला के जीवन को बेवजह बीच में ले आते हैं। कविता में 'सूखी भूमि, सूखे तरु, सूखे तित्त आलवाल' जैसे बिंब किसी सार्वभौमिक और सामाजिक स्थिति का बोध कराते हैं, मगर डा. शर्मा

कहते हैं कि 'इस साहित्यिक संघर्ष का केंद्र निराला स्वयं थे 'जला है जीवन यह' ... निराला का जीवन जला है। ...निराला के मन की आशाएं, विषाद, उल्लास, निराशा, वीरतापूर्ण कर्म, त्रास, दुःस्वप्न--यह सब कुछ कहीं न कहीं हिंदी के इस आंतरिक संघर्ष से जुड़ा हुआ है।'

साहित्य समीक्षा की यह जीवनीपरक या मनोविश्लेषणवादी पद्धति दुनिया भर में खारिज की जा चुकी है क्योंकि इसमें काफी कुछ मनमानापन बरते जाने की गुंजाइश रहती है जबकि रचनाकार के 'मन' का या 'जीवन' का जटिलताभरा स्वरूप उसके जीवनकाल में भी जानना किसी मनोविश्लेषणशास्त्री के लिए भी आसान नहीं होता, मृत्यु के बाद सिर्फ काव्यभाषा से उसे विश्लेषित करना तो और भी अप्रामाणिक होगा क्योंकि काव्यभाषा तो अपनी प्रकृति में ही बहुलार्थक होती है। काव्यभाषा के इस गुण के बारे में भारतीय काव्यशास्त्र में भी और पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांतों में भी काफी कुछ कहा गया है। हिंदी आलोचना की यह त्रासदी है कि निराला की काव्यभाषा के वस्तुगत अस्तित्व को अनदेखा करके निराला के 'मन' या 'जीवन' पर ज्यादा लिखा गया है। डा. रामविलास शर्मा ने जो शुरुआत की, वह हिंदी में अभी तक चली आ रही है। यहां तक कि दूधनाथ सिंह ने भी अपनी किताब, *निराला : आत्महंता आस्था* में इस पैटर्न को नहीं त्यागा, हालांकि उन्होंने कहीं ज्यादा गहराई से निराला की रचनाप्रक्रिया को विश्लेषित किया। डा. शर्मा की ही तरह वे भी निराला के जीवन पर बल देने का नज़रिया नहीं छोड़ पाये। उन्होंने लिखा, 'उनका सारा जीवन सांसारिक दृष्टि से असफल, अव्यवस्थित, विश्रुंखल, अतिशय अव्यावहारिक और दुखद रहा है। आर्थिक विपन्नता इसमें प्रमुख रही है। इस सांसारिक दुखद नियति के आगे हार जीत की द्वंद्वपूर्ण मनःस्थिति और उसका अंतस्ताप ही निराला की रचनात्मकता की मुख्य दिशा बन गयी है।' (पृ.14) यह देखकर हैरानी होती है कि 'बादल राग' जैसी नाटकीय रचना को भी दूधनाथ सिंह ने निराला के 'आत्म' से या 'निजी जीवन' से जोड़ दिया। वे लिखते हैं : 'निराला ऋतु के माध्यम से अपने जीवन-बिंब को ही बार बार अवतरित करते हैं, उसे पाते हैं और उसे खो देते हैं।' (पृ. 23) इसी तरह 'राम की शक्तिपूजा' जैसी महाकाव्यात्मक कविता जो भारत के स्वाधीनता समर की एक महान फूँटेसी है पुनः निराला के वैयक्तिक जीवन से जोड़ दी गयी है। दूधनाथ सिंह लिखते हैं : 'दर असल मुझे बराबर लगता है कि निराला ने राम के संशय, उनकी खिन्नता, उनके संघर्ष और अंततः उनके द्वारा शक्ति की मौलिक कल्पना और साधना तथा अंतिम विजय में अपने ही रचनात्मक जीवन और व्यक्तिगतता के संशय, अपनी रचनाओं के निरंतर विरोध से उत्पन्न आंतरिक खिन्नता, फिर अपने संघर्ष, अपनी प्रतिभा के अभ्यास, अध्ययन और कल्पना-ऊर्जा

द्वारा एक नयी शक्ति के रूप में उपलब्ध और प्रदर्शित करके अंततः रचनात्मकता की विजय का घोष ही इस कविता में व्यक्त किया है। वही स्वयं 'पुरुषोत्तम नवीन' हैं।' (वही,पृ.116) यहां तो वे रामविलास जी से भी आगे निकल गये!!

इसी तरह डा. परमानंद श्रीवास्तव भी 'राम की शक्तिपूजा' में निराला का निजी जीवन ढूंढते हैं। वे लिखते हैं, 'अन्याय जिधर, है उधर शक्ति' कह कर निराला अपने ही जीवन के दुर्भाग्य की विडंबना प्रकट कर रहे थे।' (देखिए, साहित्य अकादमी द्वारा तैयार करवाया गया मोनोग्राफ, *निराला*, पृ.18) इसी तरह वे निराला की 'मैं शैली' को 'आत्म साक्षात्कार' या 'आत्मसंघर्ष' के हवाले करके आलोचना का वही पैटर्न अपनाते हैं जिसे दुर्भाग्यवश हिंदी झेल रही है। वे लिखते हैं, 'निराला के काव्य संसार में आत्मसंघर्ष और आत्मसाक्षात्कार के अनुभवचित्र अनेक हैं और उनके आधार पर देखा जा सकता है कि निराला का 'मैं' लगातार शेष संसार की वास्तविकता से टकराता है। (वही, पृ. 29) यही बात वे निराला के गीतों के बारे में भी लिखते हैं, 'आत्म-साक्षात्कार या आत्मसंघर्ष के अनुभव निराला के गीतों में बिखरे पड़े हैं। आत्मसाक्षात्कार एक तरह से निराला के गीतों के केंद्र में है।' (वही, पृ. 38) चलो, गीतों को कोई भ्रमवश 'लिरिकल' कविताएं मान भी सकता है, मगर डा. परमानंद श्रीवास्तव तो निराला की लंबी कविताओं के बारे में भी 'निराला का जीवन संघर्ष' वाला राग ही अलापते हैं। वे लिखते हैं, 'इनका महत्व इसलिए भी है कि इनके भीतर निराला के जीवन संघर्ष का मार्मिक साक्ष्य मिलता है। (वही, पृ. 57)

चलते चलते हिंदी आलोचना की एक और बुरी आदत को रेखांकित कर दिया जाये जो निराला की कविताओं पर लिखते समय भी हर आलोचक ने लगभग अपनायी है। यह प्रवृत्ति अपने चहेते रचनाकार को श्रेष्ठतम सिद्ध करने के चक्कर में दूसरे रचनाकारों को नीचा सिद्ध करने की है। निराला पर लिखते समय डा. रामविलास शर्मा बाकी सारे कवियों को हेटा या गया गुजरा सिद्ध करने लग जाते हैं। निराला की भाषा की शक्ति की तारीफ़ करते समय वे लिखते हैं कि उनके समय के जो अन्य कवि हैं, 'वे निराला से बड़े कवि नहीं, उनकी भाषा में वह शक्ति नहीं जो निराला की भाषा में है...(निराला की सा. सा.-2, पृ. 408)। निराला के छंदों की स्वच्छंद लय के विकास के बारे में लिखते समय टिप्पणी करते हैं, 'हिंदी में उसका जैसा विकास निराला में हुआ है, वैसा किसी अन्य कवि में नहीं...' (पृ. 444) इसी तरह कहीं निराला को लांजाइनस से बड़ा, कहीं शेक्सपीयर के समकक्ष सिद्ध करते हैं। 'अभिप्राय' पत्रिका के अंक-20 में जीवन के अंतिम दिनों में दिये एक इंटरव्यू में निराला और मुक्तिबोध की तुलना करते हुए उन्होंने कहा, '...मुक्तिबोध किसान आंदोलन से कटे हुए थे। उनकी कृति 'अंधेरे में' असामान्य मनोदशा की रचना है।

..अब कोई एन्वार्मेंलिटी को ही मार्क्सवाद की उपलब्धि कहे तो हम कैसे स्वीकार कर सकते हैं? ...इसके विपरीत निराला अपने समय में सामाजिक सरोकारों से सर्वाधिक रूप से जुड़े कवियों में प्रथम ठहरते हैं। ... मुक्तिबोध कहीं भी निराला के समक्ष नहीं ठहरते... यह आज भी मेरा मानना है। (पृ. 47) इस छोटे से आलोचना अंश में गौर से देखें तो हिंदी आलोचना की दोनों बुरी आदतें यानी 'मनोदशा' तलाशने और किसी और को नीचा सिद्ध करने की प्रवृत्तियां मौजूद हैं, वह भी प्राध्यापकीय अंदाज़ में, कौन छात्र 'प्रथम' ठहरता है और कौन हेटा। यह आलोचना प्रवृत्ति दूधनाथसिंह में भी है। उन्होंने निराला की प्रेम कविताओं को व्याख्यायित करते समय उनकी तुलना कबीर, जायसी, और रवींद्रनाथ ठाकुर से की है और यह दर्शाया है कि ये सारे रचनाकार निराला के मुक़ाबले कमज़ोर थे। (देखिए, *निराला: आत्महंता आस्था*, पृ.33-34) परमानंद श्रीवास्तव भी इस मामले में पीछे नहीं रहे, उन्होंने भी प्राध्यापकीय अंदाज़ में लिख दिया, 'पूरे छायावाद युग में और संभवतः छायावादोत्तर युग में भी निराला जैसी प्रतिभा का दूसरा रचनात्मक लेखक नहीं है। निराला हर तरह से हिंदी की जातीय रचनात्मक परंपरा के अद्वितीय लेखक हैं'। (*निराला का मोनोग्राफ*, पृ.21)

हिंदी आलोचना की उक्त दो सीमाओं का उल्लेख यहां करना ज़रूरी था क्योंकि अब समय आ गया है कि 21वीं सदी में हम बेहतर आलोचना ज्ञान से अपने साहित्य को समृद्ध करें और इन प्राध्यापकीय कमियों को और आगे न घसीटें जैसा कि कुछ नये मुंडित आलोचक अब भी करते दिखायी देते हैं। पश्चिम में रोलां बार्थ ने अपने यहां प्रचलित इस तरह की प्राध्यापकीय आलोचना के खोखलेपन को उजागर किया था जिसमें कवि के व्यक्तित्व या जीवनी या उसके मन को खंगालने की अवैज्ञानिक कोशिश की जाती थी। उसने यह भी कहा था कि यह प्रवृत्ति सिर्फ यूरोप के साहित्यालोचन में ही नहीं, अन्य देशों के साहित्य में भी है। उसने अस्तित्ववादियों की 'व्यक्तित्व' की अवधारणा को विखंडित कर दिया और कहा कि कवि का एक व्यक्तित्व नहीं, बहुत सारे व्यक्तित्व होते हैं। इसलिए उसने रचना को उसके समय और समाज से सापेक्ष करार दे कर नया भाष्य देने को ही आलोचना माना और काव्यभाषा के बहुलार्थक होने की विशेषता को रेखांकित किया।

निराला जिस समाज और समय में रचनाकर्म कर रहे थे उस समय तक हिंदी भाषा का जो विकास हो पाया था, उसे और आगे तक ले जाने के उद्देश्य से भाषा के बारे में भी उन्होंने काफ़ी चिंतन किया था। स्वाधीन होने की यह आकांक्षा ही प्रेरक शक्ति थी जो आगे बढ़ने के लिए बाध्य कर रही थी। हालांकि रोलां बार्थ का चिंतन बहुत बाद में यानी सातवें दशक में प्रकाश में आया, निराला की भाषा संबन्धी कुछ मान्यताएं आश्चर्यजनक रूप से रोलां बार्थ की मान्यताओं से मिलती हैं।

भाषा की बहुलार्थक प्रकृति के बारे में उन्होंने संस्कृत की उक्ति, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का सहारा ले कर लगभग वही बात कही जिसे रोलां बार्थ ने प्राध्यापकीय आलोचना को विखंडित करते वक्त लिखा। निराला ने ज़्यादा सैद्धांतिक वाग्जाल में न उलझते हुए तुलसीदास, ग़ालिब, मीर, नज़ीर अकबरावादी की रचनाओं का अपना भाष्य या 'पाठ' प्रस्तुत किया। हलके फुलके तरीके से ही सही, उन्होंने दुलारेलाल भार्गव के एक दोहे के छः अर्थ यानी उत्तरआधुनिक भाषा में 'पाठ' प्रस्तुत किये और साथ ही यह लिखा, 'इस दोहे के यहां छः अर्थ मैंने किये हैं, और भी अनेक होते हैं। अभी यहां इतने ही दिये, विचारशील पाठक अर्थों की सार्थकता देखें।' (निराला ग्रंथावली, सं० ओंकार शरद, भाग-1, पृ० 562)

भाषा की बहुलार्थक प्रकृति की ही तरह निराला का एक और विचार भी रोलां बार्थ से मिलता है, वह है काव्यभाषा में सरल और सपाट भाषा की मांग को ले कर। रोलां बार्थ इस मांग को पूंजीपतियों के पक्ष में देखता है जो अखबारों और अन्य माध्यमों से भाषा को सरल और सपाट बनाकर उसकी रचनात्मकता को नष्ट करते हैं। उसने कहा कि प्रतिरोध की भाषा जटिल होगी ही। निराला ने भी हिंदी में 'सरल सरल' की गुहार लगाने वालों को डांटा और लिखा, 'हिंदी की सरलता के संबंध में बकवास करने वाले लोगों में अधिकांश को मैंने देखा - लिखते बहुत हैं, जानते बहुत थोड़ा हैं।' आगे उन्होंने लिखा कि जिन बड़े बड़े साहित्यिकों से समाज का वास्तव में कल्याण हुआ है, 'उन प्राचीन बड़े बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही। सोलह आने में चार आने जनता के लायक रहना साहित्य का ही स्वभाव है। (वही, पृ.462-63) निराला के भीतर यह आकांक्षा कि हिंदी साहित्य को महान साहित्य देना कवियों का कर्तव्य है, दर असल, भारतीय मुक्ति संग्राम से ही निःसृत हो रही थी। वे अन्य समकालीनों की तरह ही अपने साहित्य को विश्व स्तर के साहित्य के समकक्ष ले जाने के लिए प्रयत्नशील थे। यह काम अन्य कलाओं में भी उस दौर में हो रहा था। इसलिए निराला की रचनात्मकता को स्वाधीनता के समर से जोड़ कर देखना परखना सही होगा, उनके निजी जीवन या राग द्वेष की छवियां ढूंढना उनके काव्य के साथ अत्याचार करना होगा।'

हमारे आज के तथाकथित लोकधर्मी आलोचक भी इन्ही कमज़ोरियों के शिकार हैं। उनका 'लोक' अंग्रेज़ी कवि वर्डस्वर्थ का 'फोक' है, जिसके बारे में वर्गीय नज़रिया दोषपूर्ण है। सर्वहारा के प्रति अपनी पक्षधरता ज़ाहिर कर देने के बाद आलोचना का नज़रिया सामंती अपना लिया जाता है, हमारे कवियों के भीतर भी रचे बसे सामंत को इस तरह का 'लोकधर्मी' काव्यालोचन बहुत अच्छा लगता है। इसमें एक तरह का 'श्लिल' या एक तरह का मज़ा भी आता है। जब केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय, कुंवरनारायण, विजयदेवनारायण साही और अब तो विष्णु खरे, मंगलेश

डबराल, विष्णु नागर, असद जैदी जैसे न जाने कितने कवि भी नये 'लोकधर्मी' कवियों के आगे बौने सिद्ध हो रहे हों तो उभरते रचनाकारों की खुशी का क्या ठिकाना रहेगा, वे तो इन आलोचकों के 'लोकधर्मी' काव्यालोचन के कायल हो ही जायेंगे। मगर सचाई यह है कि उभरते रचनाकार सीधे हवा में से पैदा नहीं होते, कल उनमें से जो महानता हासिल करेंगे वे यह मानेंगे कि वे अपनी परंपरा में मिले मानमूर्त्यों और कलामूर्त्यों से कुछ न कुछ सीख कर ही आगे बढ़ पायेंगे, जैसे हर विचारवान रचनाकार सीखता है, 'संग्रह त्याग न बिनु पहचाने'। सब कुछ को खारिज कर देने से या इसे उसे बूर्जुआ कह देने से साहित्य व कला के क्षेत्र में विकास की प्रक्रिया को क्षति ही पहुंचती है। इस क्षति के बारे में मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, माओ समेत सभी महान मार्क्सवादी चिंतकों ने हर कालखंड में सर्वहारा के शुभचिंतकों को आगाह किया था।

आलोचनात्मक विवेक का इस तरह का क्षरण जनवादी आंदोलन के लिए कतई श्रेयस्कर नहीं। आलोचना और सौंदर्यशास्त्र पर विमर्श जिस वस्तुपरक विश्लेषण और आकलन की मांग करता है, व्यक्तिपरक निंदा या स्तुति पर आधारित काव्यालोचन से वह संभव ही नहीं। मनमाने ढंग से 'वर्ग मित्र' और 'वर्ग शत्रु' गढ़ लेने से आलोचना की वस्तुपरकता और विश्वसनीयता नष्ट हो जाती है, काव्यालोचन में उसका कोई सकारात्मक योगदान नहीं हो सकता। आज के समय में जब अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी सर्वहारावर्ग की राजनीति व संस्कृति को उसके सहयोगी वर्गों से अलग थलग करने की जीतोड़ कोशिश कर रही हो, सर्वहारा के शुभचिंतकों की अपना संकीर्णतावादी नज़रिया छोड़ कर रचनाकारों के बीच की अनेकता में एकता पैदा करने का प्रयास करना चाहिए न कि अच्छे खासे रचनाकारों को व्यापक एकता के दायरे से बाहर धकेल कर साहित्य व संस्कृति के विकास की प्रक्रिया में संकीर्णतावादी रुझान को बढ़ावा दे कर शोषकवर्गों के मंसूबों को जाने अनजाने फलीभूत होने देने में मदद करना।

रचनाकाल : 12 अप्रैल 2013

‘आलोचना’ की पुनर्नवता

चंचल चौहान

राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित **आलोचना त्रैमासिक** पूरे दस साल के अंतराल के बाद फिर से निकलना शुरू हुई है, यह हिंदी साहित्य के लिए एक शुभ घटनाविकास है। अप्रैल-जून 2000 के अंक के रूप में उसकी पुनर्नवता स्वागतयोग्य है। यह अंक ‘फ़ासीवाद और संस्कृति का संकट’ पर केंद्रित अंक है। अपने वक्त की सबसे ज्वलंत समस्या जो भारतीय समाज के सामने मुंह बाये खड़ी है सांप्रदायिक फ़ासीवाद की ही है और इसके प्रति हिंदी लेखक जगत को आगाह करना आज वक्त का तकाज़ा है। डा. नामवर सिंह ने इस दौर में सांस्कृतिक स्तर पर सांप्रदायिक फ़ासीवाद के खतरे की पहचान और उससे साझा संघर्ष के लिए काफी सक्रियता दिखायी है। पिछले वर्ष (यानी 1999 में) जनवादी लेखक संघ ने प्रगतिशील लेखक संघ समेत कई सांस्कृतिक संगठनों के साथ जो साझा सम्मेलन आयोजित किया था उसमें भी डा. नामवर सिंह ने पूरी शक्ति लगाकर काम किया था। पत्रिका का यह अंक भी उसी संघर्ष की एक कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। अंक में साहित्य के फ़ासीवादविरोधी तैवरों की पहचान का काम काफी हद तक बेहतर है, मगर हिंदी के साहित्यकारों द्वारा जो सैद्धांतिक और समाजशास्त्रीय विश्लेषण किये गये हैं वे काफी निराश करते हैं। उनसे हिंदी-उर्दू क्षेत्र की बौद्धिक सीमाएं ही उजागर होती हैं और यह भी पता चलता है कि जहां चेतना के स्तर पर अपने को काफी आगे मानने वाले हिंदी लेखकों के ज्ञान की इस तरह की हालत है, उस क्षेत्र में सांस्कृतिक उत्थान का काम कितना दुष्कर है। पत्रिका के खंड-1 में ‘फ़ासीवाद विमर्श’ है, इसमें पहला लेख, ‘क्रांतिकारी वामपंथी शक्तियों की ज़रूरत’ रविभूषण का है जो एक तरह से पूरी पत्रिका की टोन का हिस्सा है जिसमें लगातार यह कहा गया है कि भारत में फ़ासीवाद के उभार की ज़िम्मेदारी कम्युनिस्टों पर है। इसके लिए डा. रामविलास शर्मा के 1967 में **आलोचना** में छपे एक लेख का भी बार बार जिक्र किया गया है जिसमें कहा गया था कि ‘भारत में यदि फ़ासिस्ट तानाशाही कायम होती है तो इसकी ज़िम्मेदारी सबसे पहले वामपंथी पार्टियों पर होगी, और इन वामपंथी पार्टियों में सबसे ज्यादा कम्युनिस्ट पार्टी पर’। रविभूषण के लेख में भाषा और सूचनाओं की बहुत सारी ग़लतियों को अनदेखा भी कर दें (जैसे ‘संस्कार भारती’ को ‘संस्कृत भारती’ लिखना

वगैरह) तो भी उनकी सोच का दायरा हमारे आज के उसी मध्यवर्ग के सिनिसिज़्म का हिस्सा है जो अक्सर अतिवामपंथी लफ्फ़ाज़ी में संगठित वामपंथ पर हमला बोलने के लिए तैयार रहता है। लेख का शीर्षक ही उस संकीर्णतावाद को खोलता है जो फ़ासीवाद को अपनी बचकानी हरकतों से हमेशा मदद पहुंचाता है और खुद 'पवित्र परिवार' बने रहने का दंभ पालता है। यदि इन बचकाने वामपंथियों की सलाह स्टालिन मानते तो वे अमेरिका, ब्रिटेन और फ़्रांस जैसे साम्राज्यवादियों के साथ हिटलर के खिलाफ़ मोर्चा नहीं बनाते, अकेले ही लड़ते। दुनिया में अतिवामपंथ ने हमेशा ही धुरक्षिणपंथ को मदद पहुंचाया है, और आज भी वह सांप्रदायिक फ़ासीवाद को जाने अनजाने मदद पहुंचा रहा है क्योंकि उसका निशाना हमेशा संगठित और सक्रिय वामपंथ ही होता है। ऐसे तत्वों को खुद संगठित और अनुशासित हो कर वर्गसंघर्ष में अपनी भूमिका निभाने में शर्म आती है, इसलिए ये वही होते हैं जिनके बारे में बाबा तुलसीदास ने कहा था कि 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे / जे आचरहिं ते नर न घनेरे।' ऐसे मध्यवर्गीय तत्व अपनी निष्क्रिय संज्ञा की पहचान न करके सारा दोष संगठित सर्वहारावर्ग पर मढ़ कर छुड़ी कर लेते हैं और सोचते हैं कि उन्होंने दूसरों पर ज़िम्मेदारी डाल कर अपना दायित्व पूरा कर दिया। अब उनके आदेशों का पालन सर्वहारावर्ग करे, वह न तो साझे मोर्चे बनाये, न अपने समय की जटिलताओं को समझते हुए कोई फौरी दांवपेंच अपनाये, बस अकेले ही लड़े और मर खप जाये जिससे फ़ासीवादी ताकतें निश्चिंत हो कर राज्य कर सकें।

रविभूषण भारतीय समाज के भीतर की आधारगत सच्चाइयों को समझे बिना एक ऐसा खोखला राजनीतिक विश्लेषण पेश करते हैं जिससे मुख्य रूप से वामपंथ पर हमला होता है और यह तकलीफ़देह हालत है कि आज वह हमला देश के मध्यवर्ग को अच्छा लगता है। वे पहले यह लिखते हैं कि 'कम्युनिस्ट पार्टी ने भी सांप्रदायिक दलों का सदैव डट कर विरोध नहीं किया' (पृ. 17), फिर लिखा कि 'भाजपा को राष्ट्रीय दल बनाने में, उसका सामाजिक आधार बढ़ाने में, फ़ासीवादी शक्ति के उत्थान में कांग्रेस और वामपंथी दलों की मुख्य भूमिका रही है।' (पृ. 19) उसके तुरंत बाद उन्होंने लिखा कि 'भारत में फ़ासीवाद के उभार में प्रायः सभी राजनीतिक दल ज़िम्मेदार हैं। भाजपा का फ़ासीवाद पिछले तीन-चार वर्ष से स्पष्ट दीख रहा है, लेकिन उसका सामना और मुक़ाबला करने की क्षमता किसी राजनीतिक दल में नहीं है।' (पृ. 19) अब बताइए, फ़ासीवाद तो शिव का धनुष है जिसे तोड़ने वाला इस धरती पर तो कोई है नहीं, हाय ! 'वीर विहीन मही मैं जानी'। जिस तरह वे सारे राजनीतिक दलों को ख़ारिज करते हैं उसी आत्मबद्धता के साथ वे कलाकारों और लेखकों को भी ख़ारिज करते हैं। मकबूल फ़िदा हुसैन और दीपा मेहता तो बाज़ार के अंग हैं, इसलिए इनके लिए क्या लड़ना! वे लिखते हैं, 'मकबूल फ़िदा हुसैन बाल

ठाकरे के साथ विहंसते हैं और दीपा मेहता अरुण जेटली से संवाद चलाती हैं। कलाकार, कवि, लेखक, संस्कृतिकर्मी फ़ासीवाद का मुक़ाबला अवसरवादी और सुविधाजीवी हो कर नहीं कर सकते। कलाकारों और संस्कृतिकर्मियों का छद्म फ़ासीवाद को और बढ़ाता है।' (पृ. 21) इसके बाद फिर उन्होंने टिप्पणी की, 'क्या सचमुच आज हमारे देश का कोई राजनीतिक दल फ़ासीवाद से लड़ाई लड़ने को उद्यत है? क्या मुलायम सिंह यादव, लालू यादव, मायावती और भारत के कम्युनिस्ट दल सचमुच धर्मनिरपेक्ष हैं?' (पृ. 21) पूरे लेख में टेक की तरह यही बात दोहरायी गयी है कि 'मुक़ाबला नहीं कर सकते'। उन्होंने यह भी लिख दिया कि 'भाजपा के साथ अनेक राजनीतिक दल हैं, इससे फ़ासीवाद के आगमन पर प्रश्नचिह्न नहीं लग सकता।' (पृ. 20) यह विश्वास लगभग उसी तरह है कि 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा / को करि तर्क बढाउब साखा'। वे एक ओर कहते हैं कि 'फ़ासीवाद का आज बाज़ार, पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद से घनिष्ठ संबंध है' तो दूसरी ओर कहते हैं कि 'संघ का आधार मुख्य रूप से भारतीय मध्यवर्ग है --उपभोक्तावर्ग, जिसका सीधा संबंध बाज़ार से है और वह साम्राज्यवाद के खिलाफ़ पहले की तरह खड़ा नहीं है'। (पृ. 19) अंत में वे कई जगह लेखकों को लताड़ते हैं। फिर कहते हैं कि 'फ़ासीवाद का मुक़ाबला केवल कवि-लेखक नहीं कर सकते। आज पहला काम तीनों लेखक संगठनों को एक करने का है।' लेखकों को नसीहतें देने के बाद वे कहते हैं कि 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी आज अनेक टुकड़ों में बंटी हुई है। आपस में उनका तीन-तेरह का रिश्ता है। अवसरवादी राजनीति के कारण वामपंथी दल इसका मुक़ाबला नहीं कर सकते।' (पृ. 24)

कुल मिलाकर पूरा लेख तरह तरह की ऊलजलूल स्थापनाओं और मनोगत अवास्तविक धारणाओं से भरा पड़ा है। किसी भी तरह की कोई तर्कसंगत और वैज्ञानिक सूझबूझ लेख में दिखायी नहीं पड़ती जिससे लगे कि हिंदी का बुद्धिजीवी भी कुछ अनुसंधानपरक मेधा रखता है। यह भी लगता है कि राजनीतिक और विचारधारात्मक रूप से वह किसी के साथ नहीं है, क्योंकि सब को ही ख़ारिज कर रहा है, इसलिए वह फ़ासीवादविरोधी संघर्ष में खुद को शामिल करके भी नहीं चल रहा। वह तो सभी को उपदेश दे कर एक ही रट लगाये है कि 'मुक़ाबला नहीं कर सकते', इसलिए सब अपने अपने घर बैठो और इस लेखक की तरह ऐश करो, 'मूंदहु आंखि कतउ कोउ नाही'। हिंदी लेखकों द्वारा परोसी गयी सामग्री से तो नामवर जी के 'पुनर्नवता' शीर्षक संपादकीय में अभिव्यक्त इस विश्वास पर यकीन नहीं होता कि 'गनीमत है आलोचना के लोचन बचे हुए हैं, बाकी उनका भले ही हो, आंखें अपनी हैं और उन आंखों में दम है।' (पृ. 10) ये कैसी आंखें हैं जिन्हें जनता के उस दुश्मन की ही विजय सुनिश्चित दिखायी दे रही है जिसे किसी भी प्रतिमान से

भारतीय अवाम का उल्लेखनीय समर्थन प्राप्त नहीं है, उस उत्तरप्रदेश में भी नहीं जिसे फ़ासीवादी ताक़तों का गढ़ समझा जाता है। दिल्ली, राजस्थान और मध्यप्रदेश और फिर बिहार की जनता ने भी जिसे पिछले विधानसभा चुनावों में धूल चटायी, उ.प्र. में भी आगामी विधानसभा चुनावों में उसकी हार के लक्षण साफ़ नज़र आ रहे हैं जैसा कि पंचायत चुनावों में हुआ है। पहले भी ख़रीद फ़रोख़्त से ही सरकार बनी थी, जनता ने तो उसे बहुमत नहीं दिया था। ऐसा ही केंद्र में भी हुआ। यह ठीक है कि चुनावों में हार जीत से फ़ासीवादी विचारधारा के फैलाव को अनदेखा करना ग़लत होगा, लेकिन यह मानना कि समाज के कोई भी घटक (राजनीतिक दल, संगठन आदि) उसका मुक़ाबला नहीं कर सकते, अंततः एक तरह के सिनिसिज़्म और निराशावाद को जन्म देता है जो कि फ़ासीवाद के ही पक्ष में जाता है। विश्वस्तर पर समाजवाद को लगे धक्के से जो निराशा जन्मी है, उसका भी असर हमारे मध्यवर्गीय लेखकों पर है और कठिन संघर्ष के क्षणों में वे निराशा के कीटाणु फैलाना शुरू कर देते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि वे भी इस संघर्ष के मैदान के बीचोंबीच हैं और जाने अनजाने या तो फ़ासीवादी ताक़तों को या फिर फ़ासीवादविरोधी ताक़तों को अपने लेखन से बल पहुंचा रहे हैं।

खगेंद्र ठाकुर जैसे लेखक से उम्मीद बनती थी कि वे फ़ासीवाद के उभार का तर्कसंगत और यथार्थपरक विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे, लेकिन उनका लेख तो और ज़्यादा निराश करता है। वे भी राजनीतिक उथलपुथल तक ही अपनी व्याख्या को ले जा पाते हैं और उसमें भी काफ़ी कुछ असत्य और मनगढ़ंत ही है। मसलन, वे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के विभाजन के बारे में कारण बताते हैं, “माओवाद की प्रेरणा से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में फूट”। यह सरासर झूठ है, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी हो या रूस की लेनिन के ज़माने की रूस की कम्युनिस्ट पार्टी, दोनों में ही विभाजन का आधार विचारधारात्मक था। भारत में विभाजन का मुख्य कारण भारतीय शासकवर्गों के वर्गीय आकलन के बारे में दो विरोधी विचारों का होना था। डांगेपंथी गुट के कम्युनिस्ट कांग्रेस को राष्ट्रीय पूंजीपतिवर्ग की पार्टी मानते थे जिसका अर्थ था कि वह साम्राज्यविरोधी और सामंतवादविरोधी पूंजीपतियों की पार्टी थी, जबकि सी पी आइ (एम) की स्थापना करने वाले जो कि नेतृत्व के महत्वपूर्ण हिस्से थे यह मानते थे कि भारतीय सत्ता इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग और बड़े भूस्वामीवर्ग के साझे मोर्चे के हाथ में है जो साम्राज्यवाद से भी समझौता किये हुए है। इतिहास ने इस समझ को ही सही साबित किया क्योंकि इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग और बड़े भूस्वामीवर्ग के हितों की ही रक्षा इन वर्गों की पार्टियों जैसे कांग्रेस या भा ज पा ने अपनी नीतियों के द्वारा की और आज की असलियत भी उनके इसी वर्गचरित्र को सही साबित करती है, इसमें साम्राज्यवाद के साथ समझौते की गति ज़रूर बढ़ गयी है। इसका यह भी अर्थ

नहीं कि यहां का पूंजीपतिवर्ग दलाल या कम्प्राडोर हो गया है जैसा कि उग्रवादी कम्युनिज़्म के बचकाने मर्ज़ से पीड़ित बहुत सारे नक्सल गुट मानते हैं कि भारत की सत्ता दलाल पूंजीपतिवर्ग के हाथ में है, जबकि यह बात अब सब मानते हैं कि भारतीय पूंजीपतिवर्ग में लगभग दो सौ इज़ारेदार घराने हैं। यहां का पूंजीवाद चीन के अविकसित दलाल पूंजीपतिवर्ग की तरह नहीं था, सत्ता के हस्तांतरण के समय भी नहीं था, इसलिए नक्सलियों का वर्गविश्लेषण भी असत्य पर आधारित था। खगेंद्र ठाकुर इन गहराइयों में जाये बगैर सीधे सीधे उस दौर के झूठे प्रचार को दोहराते हैं कि 'माओवाद की प्रेरणा से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में फूट' पड़ गयी। वे अपने लेख में यह कहीं भी स्वीकार नहीं करते कि कांग्रेस की तानाशाही नीतियों और इमर्जेंसी का समर्थन करके सी पी आइ ने उन क्षेत्रों में विकल्प के लिए आर एस एस के लिए जगह छोड़ दी जहां सी पी आइ (एम) की सांगठनिक स्थिति कमज़ोर थी। जनता के जनवादी अधिकारों का हनन हो रहा था, आम जन पर तरह तरह के अत्याचार हो रहे थे, उनके खिलाफ़ जे पी आंदोलन में जो घटक सक्रिय थे, जनता उन्हें ही अपना समर्थन दे रही थी, यह स्वाभाविक ही था। सी पी आइ (एम) भी अपनी सांगठनिक कमज़ोरियों की वजह से जे पी आंदोलन में पूरी ताक़त से नहीं कूद पायी और तानाशाही ताक़तों के खिलाफ़ अलग से वामपंथी एकता की कोशिश करके अलग से एक समानांतर आंदोलन चलाने में मशगूल रही, लिहाज़ा उन क्षेत्रों में उसे भी जनता का समर्थन और स्नेह हासिल नहीं हो पाया। उस वक़्त सी पी आइ अत्याचारियों के साथ थी, समाजवादी जे पी के साथ थे, ऐसे में पूरी तरह वामपंथी एकता कहां हो सकती थी? इसीलिए अकेले सी पी आइ (एम) की मुहिम हिंदी-उर्दूभाषी क्षेत्रों में कारगर नहीं हुई, जबकि जे पी के नेतृत्व में चलने वाली मुहिम पर जनता ने भरोसा किया और अपना समर्थन दिया।

सी पी आइ यथार्थ से आंखें मूंद कर उसे कांग्रेस (आइ) की तरह फ़ासिस्ट आंदोलन कह रही थी और इस तरह आम जन की कोपभाजन बन रही थी। उस वक़्त अगर सारे वामपंथी दल कांग्रेस के अधिनायकवाद के खिलाफ़ जे पी आंदोलन में उतरे होते तो आर एस एस की जगह उस आंदोलन से वामपंथ जनता का चहेता बन जाता। जहां सी पी आइ (एम) के नेतृत्व में कांग्रेस के अधिनायकवाद के खिलाफ़ संघर्ष हुआ, वहां की जनता वामपंथ के पक्ष में खड़ी हो गयी।

फ़ासीवाद शासकवर्गों का सबसे घिनौना जनविरोधी हथियार है और इस हथियार को वे किसी भी पूंजीवादी-सामंती राजनीतिक सामाजिक संरचना (पार्टी, सेना, पुलिस, न्यायपालिका) के माध्यम से शोषित जन के खिलाफ़ इस्तेमाल कर सकते हैं। सत्तरोत्तरी दशक में फ़ासीवाद के लिए शासकवर्गों (इज़ारेदारों और भूस्वामियों) ने इंदिरा कांग्रेस को अपना चहेता बनाया, इसलिए उस तानाशाही

निज़ाम के खिलाफ़ एक व्यापक एकता की ही ज़रूरत थी, और जब वह व्यापक एकता बनी तो वह निज़ाम धराशायी हो गया। उसके बाद अनेक अलगाववादी सांप्रदायिक गुट सक्रिय हुए जो कि साम्राज्यवादपरस्त थे और उन्होंने भी अपनी जनविरोधी मुहिम से फ़ासीवादी ताक़तों को ही बल पहुंचाने में अपनी भूमिका अदा की। उसके बाद देश के इज़ारेदारों और बड़े भूस्वामियों ने शोषण-पाप के परंपराक्रम को बनाये रखने के लिए भाजपा को अपना चहेता बनाया जिसके पीछे सीधे तौर पर आर एस एस जैसा फ़ासिस्ट संगठन है और जो सबसे अधिक साम्राज्यवादपरस्त है। हमारे हिंदी लेखक इस वर्गीय प्रक्रिया को अनदेखा करते हैं और वे सिर्फ़ राजनीतिक दलों की लानत मलानत करते रहते हैं। उन्हें किसी रामविलास पासवान या जार्ज फ़र्नांडीज़ या कुमार मंगलम या के सी पंत का भाजपा के खेमे चला जाना राजनीतिज्ञों की मूल्यहीनता दिखायी देता है जबकि यह उन इज़ारेदार-भूस्वामी वर्गों का पर्दे के पीछे का खेल है जिनके हाथ में इन कठपुतलियों की बागडोर है। हमारे लेखकों की निगाह अधिरचना तक ही जाती है, आधार को नहीं देखती। इसीलिए सिनिसिज़्म पैदा होता है, निराशा होती है और निराशा फैलती है। वे पार्टियों की भूमिका को भी हमेशा के लिए तयशुदा मानते हैं, जबकि ये भूमिकाएं बदलती रहती हैं। आज कांग्रेस की वही भूमिका नहीं हो सकती, जो उसके अपने शासनकाल में थी, जब वह तानाशाही का हथियार बनी हुई थी। सांप्रदायिक फ़ासीवाद को शिकस्त देने के लिए कांग्रेस समेत उन सभी सामाजिक राजनीतिक संरचनाओं की व्यापक एकता ज़रूरी होगी जो उसे देश के सामाजिक सांस्कृतिक विकास के लिए घातक मानते हैं और उसका मुक़ाबला करने के लिए आगे आते हैं। इस एकता के बारे में नाकभों सिकोड़ना अंततः फ़ासीवादी तत्वों को ही बल पहुंचायेगा। बिहार में इस छुआछूत के रवैये से पिछले विधानसभा चुनावों में कई वामपंथी दलों ने भी फ़ासीवादविरोधी मुहिम को नुक़सान पहुंचाया।

पी.सी. जोशी जैसे विद्वान समाजशास्त्री भी कुछ ऐसी मनगढ़ंत स्थापनाएं सामने लाते हैं जिन्हें वे शायद मौलिक समझते हैं, जबकि वे स्थापनाएं अनेक तरह से अनेक जगहों पर व्यक्त हुई हैं और ग़लत साबित हुई हैं। मसलन, वे आज़ादी के दौर के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के बारे में यह कहते हैं कि 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने उस नये दौर की घोषणा की थी जब मार्क्स की यह अवधारणा कि 'हमारी चेतना हमारे सामाजिक अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती वरन् हमारा सामाजिक अस्तित्व हमारी चेतना का निर्धारण करता है' उलट-पुलट हो गयी थी। भारत और अन्य गुलाम देशों के नवजागरण ने उस नये सामाजिक 'नियम' का संकेत दिया था जब मानव चेतना का चरित्र और दिशा औपनिवेशिक सामाजिक अस्तित्व द्वारा निर्धारित नहीं थी, वरन् औपनिवेशिक सामाजिक अस्तित्व में युगांतकारी परिवर्तनों की प्रेरक शक्ति

और प्रेरणा-स्रोत के रूप में उभरी थी। इस प्रकार औपनिवेशिक मानसिकता के प्रतिरोध के अमोघ अस्त्र के रूप में विद्रोही मानव चेतना (संस्कृति) उपनिवेशवाद को उसकी जड़ों में खोखला करने में सक्रिय हुई थी और उपनिवेशवादविरोधी राजनीति और आर्थिक परिवर्तनों के लिए ज़मीन तैयार करने में सफल हुई थी।' (पृ.100) वे अपनी इस 'उलट पुलट' स्थापना को इस लेख में कई जगह दुहराते हैं, 'इंग्लिस्तान की बूर्जुआ क्रांति के बाद विश्व में जितनी क्रांतियां हुई उन्होंने संस्कृति को एक स्वायत्त और मानव-विकास की निर्धारि शक्ति में रूपांतरित किया था। मानवविकास के इस नये नियम के प्रवर्तक रेडिकल चिंतकों के अनुसार संस्कृति एक 'निर्धारि' शक्ति बनी और अर्थव्यवस्था को 'निर्धारित' घटक माना गया।' (पृ. 99) फिर आगे जाकर मार्क्स की स्थापना पर सवालिया निशान लगाते हुए और अपनी नयी स्थापना को रेखांकित करते हुए वे लिखते हैं कि 'मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में यह संभावना पैदा हुई है कि संस्कृति 'अर्थ' के अधीनस्थ न रह कर तथा स्वायत्त और स्वतंत्र हो कर स्वयं एक महत् परिवर्तन की प्रेरक शक्ति के रूप में विकसित हो सकती है।' वे यह भूल जाते हैं कि भारत में नवजागरण की प्रक्रिया तभी शुरू हुई थी जब यहां देशज पूंजीपतिवर्ग अस्तित्व में आ गया था और जिसे अपने लिए भारत का बाज़ार मुक्त कराना था। उभरते सांस्कृतिक नवजागरण में पाये जाने वाले 'राष्ट्रवाद' और 'मुक्ति' की चेतना का यही भौतिक आधार था। भारतेन्दु हरिश्चंद्र उस वक़्त यही लिख रहे थे, 'अंगरेज राज सुख साज सबै सुख भारी / पै धन विदेस चलि जात यहै दुख भारी'। भारतेन्दु ही नहीं, हिंदी समेत सभी भाषाओं में ऐसे तमाम लेखक और कवि थे जो नये उभरते आर्थिक आधार से जुड़ी चेतना का इज़हार कर रहे थे और साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद का इसी तरह गुणगान भी कर रहे थे। मार्क्स की अवधारणा न तब 'उलट पुलट' हुई थी और न अब हुई है। पी सी जोशी खुद भी अनजाने एक ऐसे सवाल में उलझ जाते हैं जिसे बारीकी से देखें तो उनकी स्थापनाएं ग़लत साबित हो जायेंगी, आज की परिस्थिति में वे सोचते हैं कि 'संप्रेषण क्रांति' ने 'साथ ही यह भी विकल्प पेश किया है कि संप्रेषण क्रांति की सहायता से सदियों के अज्ञान, अंधविश्वास और भ्रांतियों से मुक्त मानव-चेतना मानव-विकास की प्रेरक शक्ति बन सकेगी और मानव-मुक्ति और भाई चारे और विश्वबंधुत्व के सपने साकार करने में सहायक होगी? या संप्रेषण क्रांति आर्थिक और राजनीति संकुचित स्वार्थों से प्रेरित शक्तिकेंद्रों के स्वहित-साधन का ही मुख्य यंत्र बनेगी?' (पृ. 99) फिर आगे चल कर वे सवाल करते हैं कि 'संप्रेषण क्रांति किसके हित में इस्तेमाल होगी, यह आज का मुख्य प्रश्न है। क्या इसका विश्व की अर्थ और सत्ता-व्यवस्था पर हावी शक्तियों के हित में इस्तेमाल होगा जो इसे एक नये मानसिक उपनिवेशवाद का कारगर यंत्र बनाने पर तुले हैं या इसका उपनिवेशवाद

का प्रतिरोध कर रहे विशाल भूभाग के हित में उपयोग होगा, जो विश्व की बहुसंख्यक जनता है?’ (पृ. 99) पी. सी. जोशी शायद यह सोचते हैं कि संप्रेषण क्रांति अपने आप आसमान से स्वतंत्र और स्वायत्त उपग्रह की तरह टपक पड़ी, और अब इसके उपयोग के बारे में फ़ैसला होना है, यह सोच काफी भ्रंतिपूर्ण है। सत्य यह है कि संप्रेषण क्रांति भी विश्वपूँजीवाद द्वारा अपने उत्पादन के साधनों और अपने बाज़ार को विकसित करने के प्रयासों का ही नतीजा है। इसलिए जब तक उत्पादन के साधनों और उत्पादन संबंधों में विश्वपूँजीवाद सत्ताधारी वर्ग है, उनका उपयोग शोषण व्यवस्था को बरकरार रखने के लिए होगा ही, और इन साधनों से विश्वपूँजीवाद को बेदखल करने का संघर्ष भी चलेगा ही। इसलिए आधार और सुपरस्ट्रचर की मार्क्स की अवधारणा उलट पुलट नहीं हुई है, यह पी सी जोशी की मिथ्या चेतना है, आज भी आर्थिक आधार पर कब्ज़ा करने की लड़ाई ही प्रमुख है, सांस्कृतिक स्तर पर चल रहे समानांतर संघर्ष को इस आधारगत संघर्ष से अलग और पूर्णरूपेण स्वायत्त मानना सही नहीं होगा।

एजाज़ अहमद का लेख ज़रूर इस अंक की उपलब्धि है जिन्होंने ग्राम शी के विचारों के प्रकाश में भारतीय समाज में पनप रही फ़ासीवादी विचारधाराओं की गहरी पड़ताल की है। उन्होंने उपनिवेशविरोधी अतीत की परिकल्पना का आकलन करते हुए मुस्लिम सांप्रदायिकता और हिंदू सांप्रदायिकता के द्वारा जाने अनजाने फैलाये गये ‘स्मृतिमोह’ का बेबाक ऐतिहासिक नज़रिये से विश्लेषण किया है।

आलोचना के इस अंक के ‘सृजन परिदृश्य’ खंड में समकालीन साहित्य पर काफी अच्छी सामग्री है। वीरेंद्र यादव ने भगवान सिंह के उपन्यास, *उन्माद* की जो पड़ताल की है और उनके विल्हेम राइश के प्रति उपजे मनोविकारीय प्रेम को जिस तरह उघाड़ा है वह एक समय की ज़रूरत थी। (विल्हेम राइश की पुस्तक के एक अंश का ‘देरिदीय अनुवाद’ यानी दरिद्र अनुवाद या मूर्खता छिपाने वाला अनुवाद भी इस अंक में छापा गया है। देखिए पृ. 179-86) हमारे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों में एक अजीब किस्म की अतार्किक अहमन्यता उपजी है, हर ‘नये’ (?) दिखने वाले माल की तरह विचारों को भी आंखमूंद कर ख़रीदने वाले भगवानसिंहों की इस समय हमारे उपभोक्ता समाज में कमी नहीं है। भगवान सिंह के उपन्यास में समाहित मिथ्या चेतना का और मनोविकारवादी विमर्श का अच्छा और तर्कसंगत विखंडन वीरेंद्र यादव ने किया है। भगवान सिंह आत्मगत रूप से जो कुछ भी सोचते हों, उनका ज़्यादातर लेखन फ़ासीवादी तत्वों के पक्ष में जा खड़ा होता है। इतिहास के अनुशासन की अज्ञानावस्था में रहते हुए भी उन्होंने इतिहास की ऐसी मज़ेदार व्याख्याएँ की हैं जिनसे लगता है मानो वे इतिहास की सिद्धावस्था में पहुँच गये हों। यही वजह है कि रामजन्मभूमि के दावेदार इतिहासकारों की पांत में उन्हें आर एस एस के

आयोजकों ने एक आयोजन में शामिल किया और उन्होंने राम के गर्भगृह पर अपनी मोहर लगाने के लिए उसमें शामिल हो कर उन्हें उपकृत भी किया। वे काफी समय से आर एस शर्मा और इरफ़ान हबीब जैसे इतिहासकारों के खिलाफ़ विषवमन उसी तलख़ी के साथ करते रहे हैं जैसे आर एस एस के तत्व जगह जगह कर चुके हैं। यही तलख़ी *आलोचना* के इस अंक में छपे कबीर पर उनके लेख में भी देखी जा सकती है जिसमें वे मार्क्सवाद को भी कुछ काल्पनिक सामान्य समानताओं के आधार पर एक 'धर्म' की संज्ञा से विभूषित करते हैं। (पृ. 294) 'सृजन परिदृश्य' के कई अन्य लेख (जैसे ललित कार्तिकेय का समीक्षा लेख) भी काफी विचारोत्तेजक हैं।

आलोचना के पहले के स्वरूप के मुक़ाबले इस अंक में कई परिवर्तन दिखायी देते हैं। मसलन, इस बार मीडिया और अन्य कलाओं पर भी समीक्षा लेख हैं। यह एक अच्छी पहलक़दमी है। साहित्य, समाजशास्त्र और मीडिया आदि से जुड़े तमाम प्रश्नों से दोचार होना इस दौर में ज़रूरी है। *आलोचना* यदि इस स्वरूप को बरक़रार रख सकती है तो इससे हिंदी पाठक समुदाय को काफी कुछ मिल सकेगा, भले ही उसकी सामग्री किसी बहस को जन्म देती हो, या ऐसे सवाल उठाती हो जिनसे हम सब मुठभेड़ कर सकते हों।

सहमत मुक्तनाद में जुलाई 2004 में प्रकाशित

सदी के अंत में हिंदी आलोचना

चंचल चौहान

आधुनिक हिंदी आलोचना बहुत पुरानी नहीं है। इसकी शुरुआत पिछली सदी के अंत में ही हुई थी जब मानक हिंदी का स्वरूप स्थिर हो रहा था। जिस तरह पश्चिम में और संस्कृत साहित्य में भी आलोचना की शुरुआत नाट्यालोचन से हुई थी उसी तरह आधुनिक हिंदी आलोचना की शुरुआत भी नाटक की आलोचना से हुई। हिंदी में पं. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 1881 में नाटक की आलोचना अपनी पत्रिका, *आनंद कादंबिनी* में करके आधुनिक आलोचना की नींव डाली थी। उनके लेख का शीर्षक था : 'दृश्य, रूपक वा नाटक'। उनकी आलोचना पद्धति परंपरागत रूपवादी पद्धति ही थी। उन्होंने नाटकों के बारे में लिखा :

(वे नाटक) बड़े बड़े महाराजाओं और महाजन, साहूकार और विद्वानों के मन बहलाव का, किंतु चित्त के संतोष के कारण थे और सदैव सभ्यों के समाज और नरेशों के दरबार तथा हर्ष के कार्यों में इसी से काम रहता, बड़े बड़े गुणी चारण, कथक वा वेश्या जिन्हें अपनी चतुराई की चमत्कारी दिखानी होती वे नाट्य में होते।

शुरुआती दौर के हमारे समीक्षकों के पास परंपरा से मिले सामंती प्रतिमान ही मुख्य रूप में थे, भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से कुछ उधार लेकर वे आधुनिक हिंदी आलोचना की नींव डाल रहे थे। प्रेमघन ने लिखा :

जानना चाहिए कि नाटक वहां तक नहीं है कि जहां तक उसमें नक़लपन आवे किंतु नाटक और अभिनय वह वस्तु है कि जब देखने वाले को इसका परिज्ञान न रह जाये कि हम नाटक देखते हैं वा सत्य लीला, जिसके शब्द शब्द से रस चूता और पद पद पर नये आनंद का मज़ा मिलता जाये और देखने वाले उस रस में रंगकर तन्मय दशा को प्राप्त हो जायें

सैद्धांतिक आलोचना की ही तरह व्यावहारिक आलोचना में भी हमारे प्रारंभिक समीक्षकों के पास रूपवाद की ही पूंजी थी। प्रेमघन ने अपने एक लेख, 'भारतीय नागरी भाषा' में चंद बरदाई की कृति, *पृथ्वीराज रासो*, पर टिप्पणी करते हुए लिखा:

उनकी कविता का रूप और गुण का आख्यान यद्यपि संक्षेप में नहीं हो सकता और यद्यपि उसके प्रबंध के आनंद का अनुभव भी अब हम यथार्थ रीति से नहीं कर सकते, तो भी कह सकते हैं कि वह हमारे सब कवियों का राजा वा गुरु है शब्दों की सजावट और अर्थ की गंभीरता के सहित सुहाती उपमा और उत्प्रेक्षाओं को अपनी कई शैली की भाषा और विविध छंदों में दिखलाता वह सहृदयों के मन को सहज ही लुभाता है ।

हिंदी आलोचना की यह रूपवादी परंपरा आगे विकसित होती हुई उन आलोचकों तक के गले का हार बनी रही जो 'रस सिद्धांत' की फ्रायडीय व्याख्या द्वारा इसे परिपुष्ट करने में लगे रहे। इस परंपरा का मोह वे आलोचक भी नहीं छोड़ सके जो अमेरिकी रूपवादी नयी आलोचना के बहाने तीसरी परंपरा की खोज में खूब भटके।

हिंदी आलोचना के शुरुआती दौर का यह एक ही पहलू है, एक दूसरा पहलू भी हिंदी की प्रारंभिक आलोचना का था जो पं. बालकृष्ण भट्ट के लेखन में प्रकट हुआ था। *हिंदी प्रदीप* के 1881 के जुलाई अंक में उन्होंने एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक था, 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास हे'। इस लेख में उन्होंने जो स्थापना रखी, वही आगे चलकर मार्क्सवादी आलोचना की परंपरा के रूप में विकसित होने की संभावना रखती थी, उन्होंने लिखा :

साहित्य, जिस देश के जो मनुष्य हैं उस जाति की मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है वह सब भाव उस समय की साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।

दर असल, आलोचना का यह एक क्रांतिकारी विचारबीज था जो स्वाधीनता आंदोलन की गरमी से प्रस्फुटित हुआ था। यह मौलिक विचारबिंदु था जबकि प्रेमघन की आलोचना में मुख्यरूप से सामंती और रीतिकालीन सौंदर्यदृष्टि ही उधार ली गयी थी। बालकृष्ण भट्ट 'सच्ची खुशी स्वदेशनुराग' में और 'सर्वसाधारण के हित या बेहतरी' में देखते थे और साम्राज्यपरस्त सामंतों को हेय समझते थे। ऐसे दौर में जब

बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा सामंतों और साम्राज्यवादी शासकों का पक्षधर हो रहा था, 'स्वदेशानुराग' की यह परिभाषा सचमुच क्रांतिकारी थी।

क्या ये परस्परविरोधी विचारबिंदु व्यक्तियों के अपने दिमाग की उपज थे? या इनकी प्रेरणा के स्रोत सामाजिक हलचल में छिपे थे? भारत की आज़ादी तब तक संभव नहीं थी जब तक भारत की संपूर्ण जनता को अपने समाज का सत्य ज्ञात न हो जाये, जब तक उन्हें यह एहसास न हो जाये कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के गुलाम हैं और इस एहसास के लिए नवोदित पूंजीपतिवर्ग को देश में राष्ट्रवाद या 'स्वदेशानुराग' की विचारधारा को जागृत करना ज़रूरी था। हिंदी के रीतिकाल में कोई कवि 'भारत' की बाधा हरने की प्रार्थना नहीं कर रहा था, भारतीय पूंजीपतिवर्ग के उदय के साथ ही 'भारत दुर्दशा न देखी जाई' कवि की लेखनी से आना शुरू हुआ था। यह नयी चेतना पूंजीवाद के लिए अपने देश के बाज़ार को हासिल करने का सबसे कारगर साधन बन सकती थी, इसलिए सभी देशों में नेशनलिज़्म का उभार पूंजीवाद के उभार से जुड़ा हुआ था, चीन जैसे देश में जहां पूंजीवाद स्वनिर्भर और मज़बूत नहीं हो पाया था, वहां पूंजीवाद के जन्म के साथ पैदा हुआ सर्वहारावर्ग इस भावना का वाहक बना। समाज में विकास की नयी मंज़िल के लिए मुक्ति की चाह धीरे धीरे वैज्ञानिक यथार्थ की आंच जलाती है और उसके प्रकाश में समाज में एक नया आलोचकीय विवेक पैदा होता है। हिंदी आलोचना में भी यह शुरुआत पिछली सदी के अंत में हो चुकी थी और इस आलोचकीय विवेक का विकास आज़ादी के दौर में कई आलोचकों की रचनाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य में संभव हुआ जिन्होंने साहित्य को 'लोकमंगल' से जोड़ कर उसे समाज सापेक्ष घोषित किया। आज़ादी के बाद जहां सामाजिक स्थिति में बदलाव आया वहीं आलोचनात्मक विवेक में भी परिवर्तन हुआ जो रचना और आलोचना दोनों में दिखायी देता है।

भारत की आज़ादी का सारतत्व यह था कि सत्ता का हस्तांतरण बड़े पूंजीपतियों और बड़े भूस्वामियों की राजनीतिक संरचना यानी कांग्रेस को हो गया। सामंतवाद की पतनशील सामाजिक संरचना हमारे यहां खत्म नहीं हुई जिसकी वजह से यहां पुराने दक्कियानूसी वैचारिक घटक भी सक्रिय रहे। आज के सांप्रदायिक फ़ासीवादी उभार का भी मूल इसी आधारगत यथार्थ से जुड़ा हुआ है। लोकतांत्रिक विवेक का क्षरण भी इसी वजह से हुआ और हर स्तर पर जोर 'व्यक्तित्व' पर दिया जाने लगा। राजनीति में ध्यान कांग्रेस के वर्गचरित्र या उसकी करनी पर नहीं, नेहरू या गांधी के व्यक्तित्व पर ज़्यादा दिया गया। अनजाने ही 'महामानव' का फ़लसफ़ा हमारे यहां की सोच का हिस्सा बना हुआ था और आज भी बना हुआ है। *गीता* या *रामचरितमानस* में दिया गया दार्शनिक भरोसा कि 'जब जब होइ धरम की हानी/

बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी, तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा/ हरहिं कृपानिधि सज्जन भीरा' आज भी हम हिंदी वालों को सुकून देता है। भारतीय राजनीति भी व्यक्तित्व को प्रधानता इसी वजह से दे रही है क्योंकि यहां सामंती वैचारिक पिछड़ काफी ज़्यादा है और संस्कारों में गहरे तक है। लोग सोचते हैं कि अमुक प्रधानमंत्री हो जाये तो समस्याओं का हल हो जायेगा, अमुक प्रधानमंत्री नहीं होना चाहिए वगैरह वगैरह। राजनीतिक संरचनाएं महत्वपूर्ण नहीं मानी जा रहीं, उनका किया धरा महत्वपूर्ण नहीं माना जा रहा, व्यक्तित्व पर सारा ध्यान केंद्रित किया जाता रहा है। जिन अविकसित पूंजीवादी देशों में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हुई उनमें भी 'व्यक्ति पूजा' की विडंबना इसी गहरे सामंती वैचारिक ढांचे की वजह से उभरी और बाद में आत्मालोचना द्वारा उसका निराकरण करने की कोशिश की गयी। मगर यह बीमारी जो कि सांस्कृतिक पिछड़ का प्रतिफलन है हमारे समाज में भी फल फूल रही है। हिंदी आलोचना पर भी इसका गहरा असर है।

दुर्भाग्य से आलोचनात्मक विवेक का यह क्षरण आज़ादी के बाद की हिंदी आलोचना में (और रचना में भी) ज़्यादा दिखायी देता है। आलोचकों की घोषित विचारधारा कोई भी हो, रचनाकार के व्यक्तित्व या निजी जीवन या रचनाकार के 'मन' का विश्लेषण आज़ादी के बाद की हिंदी आलोचना का केंद्रीय अवगुण रहा है और इस सदी के अंत तक तो इसके ख़त्म होने के कोई आसार नज़र नहीं आते, क्योंकि एकदम नये आलोचक भी जो कुछ लिख रहे हैं उसमें भी वही पद्धति है जो व्यक्तित्व पर केंद्रित होती है, रचना तो सिर्फ़ उस व्यक्तित्व विश्लेषण में गवाही के तौर पर इस्तेमाल की जाती है। फ्रांसीसी चिंतक रोलां बार्थ ने प्राध्यापकीय आलोचना पद्धति की ख़ामियों में इस ख़ामी को सबसे पहले गिनाया और कहा कि आलोचना का यह अवगुण विश्व के अन्य साहित्यों में भी ख़ूब प्रचलित है। दूसरी ओर उसने उस रूपवादी पद्धति को भी अपने हमले का निशाना बनाया जो रचना को पूर्णतः स्वायत्त और देशकाल निरपेक्ष मानकर सिर्फ़ 'शब्द' की सीमा तक बांधकर रखने की वकालत करती थी, जैसा कि हमारे यहां अज्ञेय ने टी एस एलियट की नक़ल पर घोषित किया था कि 'काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि-धर्म इसी परिभाषा से ही निसृत होते हैं।' कोई रचना शब्द तो है, लेकिन वह सिर्फ़ शब्द नहीं है, सामाजिक चेतना का प्रतिबिंब भी है और उसमें कोई विचार, कोई संवेदना भी है जो कहीं न कहीं वर्गीय आधार से जुड़ी हुई होती है क्योंकि इस वर्गविभाजित समाज में इस जुड़ाव से बचा नहीं जा सकता, मिथ्याचेतना के कारण रचनाकार या पाठक यह भले न जान पाता हो कि वह जुड़ाव कितना जटिलतापूर्ण है, हो सकता है कि वह अंतर्विरोधपूर्ण भी हो।

इसलिए रोलां बार्थ ने रचना के सामाजिक और ऐतिहासिक संबंधसूत्रों का विश्लेषण करना भी आलोचनाकर्म का दायित्व माना । हमारी हिंदी आलोचना इस दायित्व का निर्वाह नहीं कर रही। हिंदी आलोचना के इन सौ बरसों का ज़ायजा लिया जाये तो पायेंगे कि या तो आलोचक चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन की तरह ऐसी रचना की तारीफ़ करेगा 'जिसके शब्द शब्द से रस चूता और पद पद पर नये आनंद का मजा मिलता जाये' या फिर महावीर प्रसाद द्विवेदी की तरह किसी बालमुकुंद गुप्त के बाप दादों तक की खबर ले लेगा। *वर्तमान साहित्य* के अप्रैल 99 के अंक में डा. भवदेव पांडेय ने महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा बालमुकुंद गुप्त के साथ किये गये अनाचार का कच्चा चिट्ठा खोला है और महावीर प्रसाद द्विवेदी के सामंती और साम्राज्यपरस्त विचारों का भी उदघाटन किया है। इस लेख से महावीरप्रसाद द्विवेदी की उस छवि पर कालिख पुत जाती है जो डा. रामविलास शर्मा ने बनायी थी और लिखा था कि उनसे 'मार्क्सवादी भी सीख सकते हैं'।

व्यक्तित्व विश्लेषण की बीमारी प्राध्यापकीय आलोचना में काफ़ी ज़्यादा दिखायी देती है। डा. नगेंद्र यदि महादेवी वर्मा के गीतों की आलोचना लिखेंगे तो उनके निजी जीवन पर टिप्पणी करेंगे। *दीपशिखा* के गीतों की आलोचना का उनका नमूना देखिए,

इस आत्मनिवेदन की प्रकृति को समझने के लिए तो कवि के व्यक्तित्व के विश्लेषण का सहारा लेना पड़ेगा। *दीपशिखा* के गीतों की अनुभूति पार्थिव माने बिना काम नहीं चल सकता। जलने की भावना में असंतोष और अतृप्ति भावना भी अनिवार्य है। मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिए स्थान नहीं है।

इस बीमारी से प्रगतिशील आलोचक भी मुक्त नहीं हो सके। डा. नामवरसिंह ने हालांकि इस बीमारी के विरुद्ध रूपवादी नज़रिये से संघर्ष ज़रूर किया मगर उससे पहले उन्होंने भी महादेवी के बारे में लिखा, 'पहले जहां अतृप्ति की प्रधानता थी, बाद में तृप्ति का काल्पनिक आनंद अनुभव किया जाने लगा।' डा. रमेशकुंतल मेघ ने *आलोचना-34-35* में प्रकाशित महादेवी वर्मा पर अपने एक लेख में हिंदी आलोचना की इस रुग्णता को चरम पर पहुंचा दिया जब उन्होंने उनके गीतों में रचयिता की 'फ़िजिडिटी' तलाश कर डाली : 'महादेवी में पच्चीस वर्ष के बाद से, अर्थात् *नीरजा* और *सांध्य गीत* के चरण में, अर्थात् उन्तीस साल की उम्र तक आते आते शीतल चुंबन, हिमअधर आदि के संकेतक मिलने लगते हैं जो निर्मादकता (फ़िजिडिटी) के स्पष्ट इशारे कहे जा सकते हैं।' महादेवी वर्मा एक रचनाकार के नाते

रचनाप्रक्रिया की जटिलता जानती थीं और रचना में 'अहं' के गलने की बात कहती थीं। उन्होंने लिखा था कि 'काव्यकृति में मनुष्य का अहं अपनी कठिन रेखाएं गलाकर विस्तार ही नहीं पाता, वह एक अनिर्वचनीय मुक्ति का आनंद भी प्राप्त करता है।' यह बात सातवें दशक में रोलां बार्थ ने भी आधुनिक शोधों के हवाले से कही। मगर हमारे हिंदी आलोचकों ने अपने महावीर प्रसाद द्विवेदी की लीक आज तक नहीं त्यागी।

व्यक्तित्व-विश्लेषण की यह आलोचकीय बीमारी प्रकाशचंद्र गुप्त से ले कर डा. रामविलास शर्मा जैसे प्रगतिशील आलोचकों तक में रही और आज भी उनके बहुत से नक़लची प्राध्यापकों में बखूबी मौजूद है। डा. रामविलास शर्मा की आलोचना पद्धति का तो यह दर्ज़ा ही बन गया है कि वे रचनाओं को रचनाकार के निजी जीवन के किसी वृत्तांत को सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल करते हैं। निराला की सारी साहित्य साधना पर इसी नज़रिये से लिखा है। मुक्तिबोध की रचनाओं का अनर्थ भी इसी नज़रिये से किया है। निराला की साहित्य साधना पर लिखते समय वे पन्ने पन्ने पर 'निराला का मन', 'निराला का जीवन' चर्चा करते चलते हैं और मुक्तिबोध पर लिखते समय भी उनके बिंबों और प्रतीकों को 'मुक्तिबोध का मन' से जोड़ते चलते हैं। अगर कविता में कहीं 'झीलों' (बहुवचन) का बिंब है तो वे झट से कहेंगे, यह 'मुक्तिबोध का मन' है। अगर कविता में 'प्रणयिनी' का बिंब है तो वह उसे मुक्तिबोध की प्रेमिका के रूप में व्याख्यायित कर देंगे। रचनाकार अपनी कविता में नाटकीय पात्रों का सृजन भी करते हैं और वे कविताओं के वाचक होते हैं, कवि खुद नहीं होता। निराला और मुक्तिबोध ने भी अपनी महान रचनाओं में ऐसे वाचकों का सृजन किया था जो कविताओं के वाचक थे, खुद निराला या मुक्तिबोध नहीं। लेकिन हमारे हिंदी प्राध्यापकीय आलोचक 'राम की शक्तिपूजा' में भी निराला का जीवन ढूंढते हैं, और मुक्तिबोध की कविताओं में भी जो कि नाटकीय कविताएं हैं। हिंदी आलोचक 'वाचक' शब्द का इस्तेमाल न करके हर जगह 'कवि' शब्द का ही प्रयोग करते हैं, भले ही वहां 'लकड़ी का बना रावण' हो या 'मैं शैली' में कोई अन्य वाचक।

मजेदार बात यह है कि कहानी और उपन्यास समीक्षा में भी रचनाकार के जीवन को देखा जाता है। असगर वजाहत के उपन्यास, *सात आसमान* पर जनवादी लेखक संघ द्वारा आयोजित एक गोष्ठी में एक युवा प्राध्यापक ने अपना जो लेख पढ़ा उसमें यही किया गया था। उपन्यास या कहानी जैसी विधाओं में तो नाटकीय पात्र गढ़े जाते हैं, उनमें रचनाकार का अपना जीवन आयेगा तो फिर एक ही उपन्यास तक उसकी सीमा रह जायेगी। वह आत्मकथा हो जायेगा, तब तो उसमें कल्पना का निषेध होगा। ऐसी कृतियां 'लिरिकल' मानी जाती हैं और दायम दर्जे की होती हैं। हिंदी के प्राध्यापकीय आलोचक अपने भोलेपन में अच्छी रचनाओं को भी लेखक के

जीवन से जोड़कर दोयम दर्जे की बना देते हैं। यह उनका अपना कसूर नहीं, हिंदी उर्दू क्षेत्र की सांस्कृतिक पिछड़ से जुड़ी हुई समस्या है। यह समस्या पूरे सामाजिक जीवन में आलोचनात्मक विवेक के क्षरण से भी जुड़ी हुई है। सदी के अंत में हिंदी आलोचना जहां खड़ी है, वह काफ़ी निराशाजनक है। अगली सदी में जब सामाजिक क्षेत्र में आलोचकीय विवेक विकसित होगा, तभी शायद यह अवरोध या दुर्गति दूर हो जिसे आज़ादी के दौर में उभरे आलोचकों ने दूर करने की कोशिश की थी या मुक्तिबोध जैसे रचनाकार ने आज़ादी के बाद के समय में अपने मौलिक चिंतन से। राजेंद्र यादव की हिंदी क्षेत्र के बंजरपन के बारे में मान्यता चाहे चुभने वाली लगे, मगर उसमें एक कड़वा सच तो है ही।

संभावित रचनाकाल 1999 शायद सहमत मुक्तनाद में प्रकाशित

समकालीन सृजन और आलोचना

चंचल चौहान

सबसे पहले 'समकालीन' की अवधारणा से अपनी बात शुरू की जाये। 'समकालीन' शब्द को ज्यादातर बहुत ही संकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया जाता है, एक लेखक के लिए अक्सर 'समकालीन' के दायरे में वही आता है जो उसके अपने रचनाकाल में सामने आया, इस आधार पर वयोवृद्ध लेखक और एकदम युवा लेखक की समकालीनता में भी अच्छा खासा अंतराल आ जायेगा। मैं इस संकीर्ण अवधारणा से बाहर जा कर 'समकालीन' का अर्थ युगसापेक्षता से निर्धारित करना चाहूंगा जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य की समकालीनता भी शामिल होगी। इसी नज़रिये से देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि आलोचना का सृजन हो या रचना का, दोनों का उन्मेष उनके अपने समकालीन सामाजिक परिवेश में होने वाले परिवर्तनों से आविष्ट रहता है जिनसे समाज का व्यापक विचार जगत प्रभावित होता है। अतीत में भी, जो भी रचनात्मक साहित्य आया या आलोचना के सिद्धांत रचे गये उनके मूल में भी उनका समकालीन वर्गीय यथार्थ समाहित था। हम चाहें तो पाश्चात्य जगत में क्लासिकल आलोचना के सिद्धांतों पर नज़र डालें, या भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों पर, उनके मूल में वर्गीय सौंदर्यशास्त्र और उसके पीछे काम कर रही वर्गीय विचारधरा को विश्लेषित किया जा सकता है। मसलन, ग्रीक सभ्यता के दासयुग में सोफोक्लीज़ के नाटक रहे हों या होमर के महाकाव्य और एस्खाइलस जैसे बहुत से कवियों की रचनाएं, वे उस युग की क्लासिकल विचारधरा से ही परिचालित थीं जिनमें सारी दुनिया के क्लासिकल साहित्य की ही तरह वह विचार निहित था जिसे टी ई ह्यूम ने, क्लासिकवाद और रोमांटिसिज़्म के अंतर को बताते हुए एक वाक्य में परिभाषित कर दिया था कि क्लासिकवाद इस धरणा पर आधारित था कि 'मानव अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता'। ('Man cannot transcend his limitations.') दासों को अपने अधीन बनाये रखने के लिए स्वामीवर्ग के हित में जाने वाले इस विचार को तरह तरह के समकालीन साहित्य-सृजन में रचनाकारों ने 'कांतासम्मित' उपदेश की तरह पेश किया और घूम घूम कर खूब गाया बजाया। इसी विचारधरा का एक रूप नियतिवाद या भाग्यवाद भी था जिसके अनुसार हर मनुष्य की एक तयशुदा नियति है जिसे कोई टाल नहीं सकता। 'होता है वही जो मंजूरें खुदा होता है।' या

तुलसी के शब्दों में 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।' कुछ रचनाओं के तो शीर्षक ही इस विचारधारा को उजागर करने के लिए काफी हैं, मसलन एस्खाइलस की रचना, 'प्रॉमिथियस बाउंड' जिसमें मानव की नियति को बदलने के लिए काव्यनायक ने स्वर्ग से आग चुराकर भूलोकवासियों को दे दी तो सीमा का अतिक्रमण करने के अपराध में उसे चट्टानों से बांध दिया गया। तब से मानव इन सीमाओं में आबद्ध है। उसी को मुक्त करने के लिए अंग्रेज़ी के क्रांतिकारी कवि पी बी शैले ने अपनी कृति रची : 'प्रॉमिथियस अनबाउंड'। यह अचरज में डालने वाली बात है कि दुनिया के सभी क्लासिकल साहित्यों में, खासकर महाकाव्यों में, मनुष्य को क्लासिकल विचारधारा में रेखांकित मानव की सीमाबद्धता या नियतिवद्धता का अहसास बार बार कराया गया, सोफोक्लीज़ के नाटकों और एस्खाइलस और उन सबके समकालीन साहित्य सृजन में वह साफ़ दिखायी देती ही है, सोलहवीं सदी में इंग्लैंड में रचे गये शेक्सपीयर, क्रिस्टोफ़र मार्लो आदि के नाटकों और उनके बाद मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में और शेक्सपीयर के समकालीन दौर में हमारे यहां रचे जा रहे, *रामचरितमानस* में भी उसी विचारधारा का संदेश था कि 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा/को करि तरक बढ़ावहि साखा।' महाकाव्य की रचना का तो यह आधार ही है, इसीलिए यह परंपरा *भारत भारती* और *कामायिनी* तक के रचनाकारों तक में देखी जा सकती है।

यह तो थी सृजन की बात। अब ज़रा आलोचना पर गौर करें। क्लासिकल आलोचना की शुरुआत पश्चिम में प्लेटो और अरस्तू के काव्यसिद्धांतों से मानी जाती है। प्लेटो की दार्शनिक कृतियों का विचारधारात्मक आधार क्या है? दुनिया भर के साहित्य के विद्यार्थी प्लेटो का 'अनुकरण सिद्धांत' पढ़ते हैं और अरस्तू का अपने गुरु प्लेटो से विवाद भी हमारे विमर्श का एक हिस्सा होता ही है। प्लेटो का अनुकरण सिद्धांत शुद्ध रूप में 'भाववाद' का प्रचार करता है। दुनिया भर के विभिन्न दर्शनशास्त्रों में 'भौतिकवाद' और 'भाववाद' के बीच विकट संघर्ष चलता आया है और आज भी चल रहा है। 'भाववाद' आइडिया को शाश्वत, इसलिए सर्वोपरि मानता है और जीवन जगत को क्षणभंगुर कह कर उसे मिथ्या करार देता है। प्लेटो भी जीवन जगत की भौतिक वस्तुओं को आइडिया की अनुकृति मानकर और साहित्यिक रचना को अनुकृति की अनुकृति बता कर उसे सत्य से तिहरी दूरी पर बता कर स्वामीवर्ग के गणराज्य से महाकवियों को दूर रखने की सलाह देता है। उसकी सारी कृतियां खुले तौर पर स्वामीवर्ग को हर स्तर पर मज़बूत बनाने के लिए लिखी गयी थीं, दार्शनिक स्तर पर उसकी टकराहट 'भौतिकवाद' से थी। उसके 'भाववाद' का खंडन अरस्तू ने किया और रचना को जीवन जगत यानी प्रकृति की अनुकृति बताया, जो कि हम सब की तर्कबुद्धि के आधार पर सही है, मगर उसके काव्यशास्त्र में जिसमें

मुख्य बल तो नाट्यशास्त्र पर ही है, उसके समकालीन शासकवर्गों की क्लासिकल विचारधरा का ही पोषण है क्योंकि वह उस विचारधरा का अतिक्रमण अपने परिवेश के दबाव के कारण कर ही नहीं सकता था। इसीलिए उसने नाटक के कथानक के आदर्श के रूप में सोफोक्लीज़ द्वारा रचित नाटक, *इडिपस*, *द किंग*, को ही पेश किया और अपने सारे आलोचना सिद्धांत उसी के आधार पर निर्मित किये और अपने शिष्यों को पढ़ाये। आज भी दुनिया भर की यूनिवर्सिटियों के साहित्य विभागों और मानविकी के अध्ययन अध्यापन में इन दार्शनिकों के सिद्धांत पढ़ाये जा रहे हैं, मगर उनके बारे में वैज्ञानिक तर्कसंगत आलोचनात्मक विवेक बहुत कम देखने को मिलता है।

मुक्तिबोध ने कहा था कि आलोचना 'सभ्यता समीक्षा होती है'। मैथ्यू आर्नल्ड ने तो कविता की परिभाषा भी यही कह कर की थी कि वह जीवन की समीक्षा होती है। इसी वजह से हर युग में जो संघर्ष दर्शन के स्तर पर 'भाववाद' और 'भौतिकवाद' के बीच दिखायी देता है, वही संघर्ष उन दर्शनों की समकालीन रचना और आलोचना में भी देखा जा सकता है। अंग्रेज़ी में शेक्सपीयर, और उसके समकालीनों और उसके बाद के महाकवि मिल्टन का युग तो व्यापारी पूंजी से मालामाल हो रहे इंग्लैंड का युग था, उसमें सामंती ताकतों के खिलाफ नया पूंजीपतिवर्ग उभर रहा था, मगर स्वामीवर्ग का हितसाधन करने वाली क्लासिकल विचारधरा नये शासकवर्गों के हितसाधन में भी काम आने वाला औजार थी, इसलिए अपने नाटकों में उस दौर के नाटककारों ने और बाद में महाकाव्य में मिल्टन ने भी उसे ईसाइयत की रंगत में पेश किया। हमारे यहां तुलसीदास ने भी ब्राह्मणवाद के रूप में उसी तरह की विचारधरा को रचना का आधार बनाया। गीता में जब कृष्ण के ही मुख से कहलवा दिया कि 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम्' तो फिर बाबा लोग क्या करते?

किसी भी समय की रचना और आलोचना दोनों ही के लिए, अपने समकालीन शासकवर्गों की विचारधरा से मुक्त हो पाना आसान नहीं होता। शेक्सपीयर, क्रिस्टोफर मार्लो, और बाद में मिल्टन परोक्ष स्तर पर, उसके बाद के कवि, खासकर अलेग्ज़ेंडर पोप तो ऐलानिया तौर पर ही ग्रीक ज़माने की उसी क्लासिकल विचारधारा का यह संदेश देते हैं कि 'मानव अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता', जिसने अतिक्रमण किया, उसकी वही हालत होगी, जो ग्रीक साहित्य के नायकों की हुई, इकारस ने मोम के पंख लगा कर उड़ने की कोशिश की, तो हमारे यहां के त्रिशंकु की तरह औंधेमुंह गिरा, इसी तरह शेक्सपीयर के त्रासद नाटकों में इसी विचारधरा का सूत्र पिरोया हुआ है, उस पर ईसाइयत की परत चढ़ा दी गयी है। हैमलेट नाटक के एक संवाद में तो तुलसीदास की 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा' वाली विचारधारा का आश्चर्यजनक रूप से लगभग अनुवाद है :

...There is special providence in the fall of a sparrow.
 If it be now, 'tis not to come; if it be not to come, it will be
 now; if it be not now, yet it will come—
 the readiness is all. (*Hamlet*, Act V, Scene 2, 217-24)

क्लासिकल विचारधरा का यह धागा वर्गविभाजित समाजों में इतनी मज़बूती से फैला हुआ है कि आज भी 21वीं सदी में अपनी तमाम रूढ़ियों और तरह तरह के अंधविश्वासों के साथ संस्कारबद्ध आम जन में यह विचारधारा मौजूद है। इंसानी नाबराबरी को सही ठहराने वाली यह विचारधारा हमारे समाज में ब्राह्मणवाद के रूप में गहरी पैठी हुई है। समय समय पर जिन जिन संतों, रचनाकारों व चिंतकों और दार्शनिकों या सामाजिक तबकों ने इसे चुनौती दी, अपने समय व समाज की 'सभ्यता समीक्षा' की, उन्हें भी कालांतर में इस विचारधारा ने अपने पेट में समाहित कर लिया और अपना जैसा ही बना डाला। मध्यकाल में सबसे अधिक ज़ोरदार तरीके से कबीर ने सभी धर्मों में व्याप्त इस विचारधारा को चुनौती दी, साफ़ साफ़ कहा कि ज्ञान का वरण करो, अंधविश्वास त्यागकर ज्ञानमार्ग अपनाओ, मंदिर मस्जिद में क्या रखा है, 'मो को कहां दूँ बंदे, मैं तो तेरे पास में/ ना मैं मंदिर ना मैं मस्जिद ना काबा कैलास में।' कबीर ने पंडितों को ललकारा, और कहा कि 'पंडित वाद वदैं सो झूठा'। बाद में, निर्गुणपंथी संतों की वाणी जिस ग्रंथ में संकलित कर ली गयी, उसे सगुणपंथ के ब्राह्मणवादी संतों की ही तरह एक पवित्र मूर्ति की तरह पूजा जाने लगा और सगुण संतों के अवतारी ईश्वरों की मूर्ति की ही तरह एक मंदिर में स्थापित करके उसी रीतिरिवाज और पूरे तामझाम के साथ उस ग्रंथ की पूजा अर्चना की जाने लगी और उसी तरह उससे कुछ वरदान हासिल करने, प्रसाद व चढ़ावा चढ़ाने, कीर्तन प्रवचन आदि का उसी तरह का सिलसिला ज़ोरों से चलने लगा। आज तो उसे एक उद्योग की तरह चलाने, उसके कंगूरों को शुद्ध सोने से सजाने का सिलसिला चल गया है। यह ब्राह्मणवाद की विजय का ही नमूना है। इन सभी मंदिरों, गुरुद्वारों और मस्जिदों व चर्चों से और इन्हीं के अनुयायियों द्वारा सारे टीवी चैनलों पर दिये जा रहे प्रवचनों को सुनें तो आपको एक ही विचारधारा का प्रचार मिलेगा, ग्रीक समय की स्वामियों का हितसाधन करने वाली क्लासिकल विचारधारा और उसी से जुड़ा नियतिवाद, भौतिकवाद का खंडन और भाववाद की स्थापना। 'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या', 'गो गोचर जहं लगि मन जाई/सो सब माया जानेउ भाई'। तर्कबुद्धि और वैज्ञानिक ज्ञान को नकारने का यह सिलसिला जारी है, धर्मों के ठेकेदारों से ले कर साहित्य के बहुत से 'भाववादी' और 'रूपवादी' आंदोलन भी यही करते आ रहे हैं।

यह सब वर्गविभाजित समाज में वर्गसंघर्ष का ही एक हिस्सा है जिसमें लेखकों को भी जाने अनजाने शरीक होना पड़ता है, अपने अपने ज्ञान और समाज के सत्य को जानते हुए उसे बेहतरी की ओर ले जाने के लिए लेखक भी कबीर की तरह इस विचारधारात्मक संघर्ष में शरीक होता ही है, कबीरदास और तुलसीदास की विचारधारा टकराती है, मुक्तिबोध और अज्ञेय की विचारधारा टकराती है। 'प्रगतिवाद' और 'आधुनिकतावाद' में टकराव होता है, 'जनवाद' और 'उत्तरआधुनिकतावाद' में विचारधारात्मक संघर्ष चलता है।

हिंदी में आधुनिक साहित्य की रचना और आलोचना की शुरुआत की कहानी भी दूसरे देशों के आधुनिक साहित्य के विकास से अलग नहीं है। जहां जहां सामंती खोखल से निकल कर समाज आधुनिक मशीनी युग में प्रवेश करता है जिसमें नये उत्पादन के साधन और नये वर्ग उदित होते हैं, वहां आधुनिक साहित्य और उसी की तरह आधुनिक आलोचनाशास्त्र का भी उदय होता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब हमारे यहां भी नयी मशीनें, कल कारखाने और उनके मालिकों के रूप में नया पूंजीपतिवर्ग वजूद में आया तो उसे अपने वर्गहित में आधुनिक शिक्षा, आधुनिक ज्ञानविज्ञान और हर क्षेत्र में दूसरे विकसित आधुनिक देशों की ही तरह के प्रशासन और संस्थाओं की स्थापना की ज़रूरत पेश आने लगी, छपाई मशीनों ने इसमें अपनी भूमिका अदा करनी शुरू कर दी और अखबार व पत्रिकाएं निकलना शुरू हो गयीं, कालेज और विश्वविद्यालय बनने लगे, उनमें साहित्य के पठनपाठन की प्रणाली शुरू हो गयी। पश्चिम के देशों के मुकाबले हमारे यहां एक अलग किस्म का पहलू यह भी था कि सामंतवाद का पूरी तरह खात्मा तो नहीं हो पाया था, उल्टे विकसित पूंजीवादी देशों के शासकवर्ग भी राज कर रहे थे जिनकी वजह से यहां का देशी पूंजीपतिवर्ग और दूसरे वर्ग शोषित और अपमानित महसूस कर रहे थे। इसलिए देश में नयी जागृति लाना नवोदित पूंजीपतिवर्ग के लिए सबसे बड़ी ज़रूरत थी। पश्चिम में तो नवोदित पूंजीवाद ने सामंती ताकतों को नेस्तनाबूद करने के लिए 'राष्ट्र राज्य' और 'राष्ट्रवाद' की नयी अवधारणाओं को जन्म दिया और इन अवधारणाओं को अवाम की चेतना का हिस्सा बनाया। हमारे यहां नवोदित पूंजीपतिवर्ग ने उपनिवेशवाद और फिर साम्राज्यवाद के खिलाफ जनगण में देशकाल के अनुरूप 'राष्ट्र राज्य' और 'राष्ट्रवाद' की नयी अवधारणाओं का प्रचार करना शुरू कर दिया जिसके लिए भारतीय भाषाओं के प्रयोग की भी वस्तुगत परिस्थिति पैदा हो गयी। इसलिए हमें उस काल की रचना में पूरे देश और उसके अवाम की चिंता झलकती हुई दिखायी देने लगी। जहां पहले सब अपनी अपनी भववाधा हरने के लिए रचना में राधकृष्ण से निवेदन करते थे, उसे राजाओं के दरबार में सुना कर अशर्फी हासिल करते थे, कहते थे, 'मेरी भववाधा हरउ, राधा नागरि सोय/ जा तन की झाँई परै स्याम हरित दुति होय।' या

फिर राजा रानियों के सुखदुखों या उनकी वीरता का ही चित्रण होता था, अचानक कवि यह कहने लगा, कि, 'आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई/ भारत दुर्दशा न देखी जाई'। यह 'भारत' शब्द अचानक कहां से आ धमका! यह उभरते पूंजीवाद का ही करिश्मा था, यह करिश्मा अपने उभार के दौर में पूंजीवाद ने हर देश में पैदा कर दिया था और फिर शुरू हुआ तो उसके बाद थमा ही नहीं। दर असल, समाज में आयी नयी वर्गीय तब्दीली का ही यह प्रतिबिंब था जो साहित्य में और उसकी समकालीन आलोचना में झलकना ही था।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में उभरे पूंजीवाद के युग में रचना में आये परिवर्तनों की ही तरह आधुनिक हिंदी आलोचना विधा का सूत्रपात भी वर्गों की इसी नयी कृतारबंदी से संभव हुआ, उसने अतीत के आलोचना प्रतिमानों पर अपने तरीके से विमर्श शुरू किया। भारतीय काव्य शास्त्र में भरत के *नाट्यशास्त्र* के रस सिद्धांत से ले कर वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के जो भी आलोचना के प्रतिमान अस्तित्व में आये, उनकी वर्गीय विचारधारा को नवजागरणकालीन आधुनिक आलोचना ने, बाद में आज़ादी की लड़ाई के दौर में अपने अपने वर्गीय रुझानों के अनुसार विश्लेषित कर डाला। सामंती चेतना में फंसे आलोचक पुराने ज़माने के प्रतिमानों से ही काम चलाना चाह रहे थे, जबकि नये उदीयमान वर्गों के विचारों से प्रेरित आलोचक नये नये ज्ञान को विकसित करने की प्रेरणा से लैस हो कर तर्कसंगत तरीके से रचनाओं को व्याख्यायति करने की कोशिश कर रहे थे। वे विचारों के स्तर पर आपस में टकरा भी रहे थे, उनकी टकराहट भी अपनी अंतिम परिणति में समाज में चल रहे वर्गसंघर्ष से ही अनुप्राणित हो रही थी। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दिनों में शुरू हुई अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं में छपी आलोचनात्मक सामग्री को ठीक से विश्लेषित करें तो यह यथार्थ सामने आ जायेगा। उस समय प्रकाशित होने वाली अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं में आलोचनात्मक टिप्पणियां प्रकाशित होने लगी थीं। उन्हीं दिनों भारतेंदु हरि चंद्र और उनके मंडल के रचनाकार कविता, नाटक आदि के स्वरूप व कथ्य, भाषा आदि पर बहस कर रहे थे और यहीं से आधुनिक हिंदी आलोचना का बीजवपन हुआ। (इस तरह के विश्लेषण के लिए आप मेरी पुस्तक, *आलोचना यात्रा*, का पहला अध्याय देख सकते हैं।)

कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे समकालीन रचना हो या आलोचना, दोनों की प्रेरणा के स्रोत वही हैं जो दूसरे वैचारिक सृजन के होते हैं। इस नज़रिये से मैंने भारतेंदु के नाटकों से ले कर आज तक की बहुत सी रचनाओं और उसी दौर के भीतर प्रकाशित होने वाली आलोचना का ज़ायजा समय समय पर लिया है, और पाया है कि रचना और आलोचना दोनों में अपने समय और समाज के वैचारिक संघर्ष परिलक्षित होते हैं। (समय समय पर लिखे मेरे ऐसे लेखों का एक संग्रह, *आलोचना*

की शुरुआत और दूसरा, हिंदी कथा साहित्य: विचार और विमर्श, शीर्षक से प्रकाशित हुआ है)।

गौर से देखें तो पायेंगे कि छायावाद के दौर में कविता, कहानी, उपन्यास आदि सभी विधाओं में जो रचनात्मक साहित्य लिखा गया, उसमें से वही आज ललित साहित्य की श्रेष्ठतम श्रेणी में रखा जाता है जिसमें आज़ादी की लड़ाई के दौर का सबसे अधिक तर्कसंगत नज़रिये से पहचाना गया यथार्थ चित्रित है और जो कला के मानदंडों पर भी खरा उतरता है। यही बात उस दौर की आलोचना पर भी लागू होती है। जिस तरह आज़ादी की लड़ाई को सफल बनाने के लिए विभिन्न वर्गों और वर्णों व धर्मों या क्षेत्रों में विभाजित सभी भारतीय जनों की एकता की मांग थी, वही चेतना आलोचना में 'विरुद्धों के सामंजस्य' के नारे के रूप में रामचंद्र शुक्ल की आलोचना में मौजूद थी, उनके चिंतन की जो सीमाएं थीं, भारतीय समाज के बौद्धिक चिंतन के स्तर के मुताबिक ही थीं। उनके गद्य में आज़ादी की कामना अभिधा में भी मौजूद थी, और छायावाद की 'असीम और ससीम' कल्पना का मज़ाक उड़ाते हुए उसकी कटु आलोचना भी उसी कामना की वजह से थी, भले ही वे अपनी विश्लेषण क्षमता की सीमा को समझ नहीं पा रहे थे। ठीक इसी तरह प्रगतिवादी दौर में डा. रामविलास शर्मा जो सलूक मुक्तिबोध, गिरिजकुमार माथुर और शमशेर के साथ, उन्हें 'रहस्यवादी' बता कर, कर रहे थे, उसके मूल में उनकी साम्राज्यवादविरोधी चेतना ही थी, मगर उनकी भी वही सीमा थी कि वे जिन कवियों का मज़ाक उड़ा रहे थे उनकी उस प्रगतिवादी चेतना को उनकी रचनाओं में नहीं देख पा रहे थे।

आज़ादी के बाद हिंदी में आधुनिकतावाद की जो लहर नयी कविता, नयी कहानी, अकविता और अकहानी आदि के रूप में रचनाओं के स्तर पर आयी, तो आलोचना में भी उसकी वकालत करते हुए नये प्रतिमानों की लहर दिखायी दी और उसके बहाव में अपने को प्रगतिशील मानने वाले आलोचक भी आ गये। डा. रामविलास शर्मा की आलोचना पद्धति पर गहराई से सोचें तो पायेंगे कि वे मुख्यतः रचनाओं में निहित वर्गीय चेतना का विश्लेषण करने के बजाय रचनाकार के निजी जीवन को विश्लेषित करते हैं, यह आधुनिकतावाद का ही असर था जिसमें व्यक्ति की निजता, उसका भोगा हुआ यथार्थ केंद्र में रहता था। दूसरे छोर पर, कहना न होगा कि नामवर सिंह की आलोचना पद्धति में तो सीधे सीधे पश्चिम की रूपवादी नव्य आलोचना के औजार, मसलन पैराडाक्स, विडंबना, लीलाभाव आदि कोई भी देख सकता है, उन्हें अपनी मार्क्सवादी आलोचना के मुक़ाबले रूपवादी औजार ज़्यादा आकर्षक लगे।

उसके बाद एक नया दौर शुरू हुआ जो संकीर्ण अर्थ में, मेरा समकालीन दौर था। इस दौर की रचना और आलोचना ने अपने से पहले के दौर का

आलोचनात्मक जायजा लिया और उसकी कमियों का विश्लेषण भी किया। यह दौर 1970 से शुरू हुआ जब भारत का पूंजीवाद संकट की भयंकर अवस्था में प्रवेश कर चुका था, और पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था के खिलाफ पूरे समाज में एक आक्रोश दिखायी देने लगा था, 'क्रांति' की पुकार पूरे साहित्य में गूँजने लगी थी। इस दौर में रचनाकारों और आलोचकों की एक नयी फ़सल सामने आयी जिसने एक ओर जनवादी मूल्यों पर होने वाले हर प्रहार के खिलाफ़ एक प्रतिरोधी आवाज़ उठायी और रचना और आलोचना दोनों स्तरों पर आधुनिकतावाद की विचारसरणि से संघर्ष छेड़ दिया। दूसरी ओर, पहले के प्रगतिवादी रचनाकर्म और आलोचनाकर्म को भी नये सिरे से विश्लेषित विवेचित किया और उसकी उपलब्धियों और सीमाओं को बेलाग तरीके से देखा परखा।

आधुनिकतावादी रचना और आलोचना, इससे पहले लगातार, पश्चिमी साहित्य में प्रचारित किये गये साहित्य के मानमूल्यों को शीतयुद्ध की राजनीति के तहत प्रचारित प्रसारित कर रही थी। हालांकि आधुनिकतावादी रचना और आलोचना के विचारधारात्मक नारों का जवाब मुक्तिबोध अपने समय में दे रहे थे, मगर वे कारगर नहीं हो पा रहे थे क्योंकि उस दौर में सर्वसंशयवाद समाज में हावी था, मध्यवर्ग को किसी विचारधारा या राजनीति से कोई लेनादेना नहीं था। यह सिर्फ़ मोहभंग का दौर था जो साठोत्तरी बरसों के अंतिम चरण में भारतीय राजनीति में भी दिखायी दे रहा था, कांग्रेस की देश के कई राज्यों में पराजय और संविद सरकारों का गठन इसी का प्रतिफलन था। मध्यवर्ग इस मोहभंग के दौर में अकेलापन, संशय, संत्रास आदि के आधुनिकतावादी मूल्यों को ही वरेण्य समझ रहा था, क्योंकि उसके लिए ज़मीन तैयार थी। अज्ञेय की रचना और आलोचना इन नारों की मुखर रूप थी। 'नदी के द्वीप', 'अपने अपने अजनबी', 'उछली हुई मछली', 'एक बूंद सहसा उछली' आदि शीर्षक ही इन मूल्यों के प्रसार के गवाह हैं। उनकी एक कविता, 'सवेरे उठा तो', में इन आधुनिकतावादी मूल्यों को अभिधा में ही अज्ञेय ने कह डाला था :

...

ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं

यह अकेलापन, यह अकुलाहट, यह असमंजस, अचकचाहट, आर्त अननुभव

यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय विरह-व्यथा,

यह अंधकार में जागकर सहसा पहचानना कि

जो मेरा है वही ममेतर है

इन मूल्यों का प्रचार प्रसार करने की प्रेरणा अज्ञेय को अमेरिका की बदनाम संस्था, सी आइ ए द्वारा चलायी जा रही, 'कांग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ़्रीडम' से मिल रही थी जिसे

भारत में चलाने का जिम्मा अज्ञेय को मिला हुआ था। (देखें, डा. जवरीमल्ल पारख की आलोचना पुस्तक, *नयी कविता का वैचारिक आधार*, पृ. 5-9)। धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त आदि बहुत से रचनाकार थे जो इन मूल्यों के प्रचार प्रसार में लगे हुए थे। इन सभी के विचारों के साथ संघर्ष पिछली सदी के सत्तरोत्तरी बरसों से शुरू हुआ और हिंदी के रचनात्मक व आलोचनात्मक साहित्य में जनवादी मूल्यों की रक्षा और विकास की संकल्पदृष्टि झलकने लगी। आपातकाल के अनुभव ने रचनाकारों के सामने इस यथार्थ का अहसास करा दिया कि हमारे समय और समाज को सबसे बड़ा खतरा सत्ताधरी वर्गों यानी इज़ारेदार पूंजीपतिवर्ग और सामंती ताकतों के ऐसे गठजोड़ से है जो साम्राज्यवाद के साथ समझौता करता रहता है। ये ही वर्ग किसी भी राजनीतिक संरचना के माध्यम से मौजूदा लोकतंत्र और संविधान में प्राप्त जनवादी अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं का हनन कर सकते हैं। इन्हीं शांति वर्गों ने शोषित अवाम, दलित दमित साधरण जन को अपने सरोकारों के दायरे से बाहर कर दिया। रचनाकारों ने इस यथार्थ को अपनी लेखनी से संवारा, रचा, आलोचना ने इस दौर की व्याख्या की।

बार बार संकट की खाई में गिरते पूंजीवाद ने अपनी रक्षा के लिए पिछली सदी के आखिरी दशकों में एक नयी व्यूहरचना की जिसे आज के समाजशास्त्री 'अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी' के नाम से पहचान चुके हैं जो विश्वपूंजीवाद का रक्षाकवच है और जो पूरी दुनिया को अपनी चपेट में ले चुकी है। इसी के निर्देश पर हर देश में 'उदारवाद' और 'भूमंडलीकरण' का वर्चस्व कायम किया जा रहा है, जिसका अर्थ है कि गरीबों के लिए कल्याण योजनाओं पर किये जाने वाले खर्च में कटौती, देश की परिसंपत्तियां, जैसे खनिज, जंगल ज़मीन आदि की खुली लूट और हर सेवा निजी क्षेत्र के पूंजीपतियों को सौंप देने की चाल, ठेकेदारी प्रथा और अस्थायी ठेके पर नौकरियां, मज़दूरों की छंटनी और उन्हें असंगठित क्षेत्र में धकेलना, आम जनता की तरह मज़दूरों के संवैधानिक अधिकारों को छीनना आदि। शिक्षा, चिकित्सा, संचारमाध्यमों आदि के निजीकरण को तो हम अपनी आंखों देख ही रहे हैं, सरकारी क्षेत्र की मुनाफ़ा कमाने वाली कंपनियों को भी विनिवेश के नाम पर निजी कारपोरेट सेक्टर के हाथों बेच देने की साज़िश चल रही है, 'अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी' के एजेंडे को जो राजनीतिक संरचनाएं पूरी स्वामिभक्ति से लागू कर सकती हैं, उन्हें ही सत्ता में आसीन कराने के लिए पूरा धनबल, जनबल लगाया जा रहा है, उसके आर्थिक एजेंडे के विरोध में और उसकी जगह जनहितकारी वैकल्पिक आर्थिक नीति पेश करने वाली राजनीतिक संरचनाओं को अलग थलग करने की पूरी कोशिश हो रही है। आम जन इस नये शोषणचक्र का शिकार होता जा रहा है। समकालीन रचनाशीलता इस

शोषणचक्र को देख पा रही है, समकालीन आलोचना अपने आलोचनात्मक विवेक से इसका विश्लेषण करने में भी सक्षम है।

बहुत से लेखक इस दौर में आलोचना को कोसते नज़र आ रहे हैं। अनेक लघुपत्रिकाओं में इस तरह के लेख आते रहते हैं कि आलोचना अपना कर्तव्य नहीं निभा पा रही, या आलोचना काफ़ी लचर नज़र आ रही है, कोई सैद्धांतिकी नहीं सामने आ रही। इन आरोपों-प्रत्यारोपों से साहित्य व समाज का कोई भला नहीं होता। न तो रचना डंडे के बल पर लिखवायी जा सकती है, और न आलोचना। अच्छी रचना भी हो रही है और उसका आकलन आलोचना में हो रहा है। इन्हें एक दूसरे के सामने अपराधियों की तरह खड़ा करना अज्ञान की मनोदशा का परिचय देना है। मुझे अपने समकालीन रचनाकारों की रचनाओं में से जो भी उत्प्रेरक लगीं, उन पर मैंने अपना आलोचना लेखन किया, किसी के कहने से नहीं। किसी आलोचक की आलोचना में कुछ गड़बड़झाला लगा तो उसे भी रेखांकित किया।

अंत में, एकदम समकालीन रचना के बेहतरीन उदाहरणों में से बानगी के तौर पर पिछले दिनों प्रकाशित एक कवि आत्मारंजन के संग्रह, *पगडंडिया गवाह* हैं, की पहली कविता, 'कंकड़ छांटती' को मैं यहां पेश करना चाहूंगा :

भागते हापंफते समय के बीचोंबीच
समय का एक विलक्षण खंड है यह
अति व्यस्त दिन की
सारी भागमभाग को धता बताती
दाल छांटने बैठी है वह
काम से लौटने में विलंब के बावजूद
तमाम व्यस्तताओं को
खूंटी पर टांग दिया है उसने
पूरी इत्मीनान से टांगे पसार
बैठ गयी है गृहस्थ मुद्रा में
हाथ मुंह धेने, कपड़ने बदलने जैसी
हड़बड़ी नहीं है इस समय
एक आदिम ठहराव है
तन्मयता है पूरी तल्लीनता

पूरे मन से डूबी हुई एक स्त्री
एक एक दाने को सौंप रही
उंगलियों का स्निग्ध स्पर्श

अन्न को निष्कंकर होने की
गरिमाभरी अनुभूति
स्वाद के तमाम रहस्य
और भी बहुत कुछ

एक स्त्री का हाथ है यह
दानों के बीचोंबीच पसरा स्त्री का मन
धुसपैठिये तिनके, सड़े पिचके दाने तक
धरे जाते हुए
तो फिर कंकड़ की क्या मज़ाल !
उसकी अनुपस्थिति में
एक पुरुष को
अनावश्यक ही लगता रहा है यह कार्य
या फिर तीव्रतर होती जीवन गति का बहाना

उसकी अनुपस्थिति दर्ज होती है फिर
दानों के बीचोंबीच
स्वाद की अपूर्णता में खटकती
उसकी अनुपस्थिति / भूख की राहत के बीच
दांतों तले चुभती / कंकड़ की रड़क के साथ
चुभती रड़कती है उसकी अनुपस्थिति
खाद्य और खाने की / तहज़ीब और तमीज़ बताती हुई

एक स्त्री का हाथ है यह
जीवन के समूचे स्वाद में से
कंकड़ बीनता हुआ।

यह कविता हिंदी की ही नहीं, विश्व साहित्य की उस परंपरा की याद दिलाती है जिसमें, शोषित दलित जन की महत्ता की समाज को पहचाना करायी गयी थी। उभरते पूंजीवाद के दौर में शेक्सपीयर ने अपने नाटक, *जूलियस सीज़र* के पहले ही दृश्य में मेहनत मजदूरी करने वालों से हमारा अर्थपूर्ण परिचय करवाया, यह संकेत देते हुए कि समाज में परिवर्तन इनके बगैर नहीं हो सकता। उसमें एक मोची से

पूछा जाता है कि, तू क्या काम करता है तो वह कहता है कि मैं 'सोल' सुधारता हूँ, यहां 'सोल' में वह श्लेष का प्रयोग करता है। हमारे यहां के उभरते पूंजीवाद ने जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ आज़ादी की लड़ाई छेड़ी तो यहां भी रचनाकारों ने यह अहसास दिलाया कि श्रमशीला जनता को साथ लिये बगैर यह जंग नहीं जीती जा सकती। निराला ने इस श्रमशीला जनता को 'देखा इलाहाबाद के पथ पर', 'वह तोड़ती पत्थर।' गुरु हथौड़ा उसके हाथ में है और उसकी निगाह अमीरों की हवेली की अट्टालिका की तरफ़ जाती है, जिसमें उसी का श्रम लगा है और जो खुद बदहाली में जी रही है। ऐसे श्रमशील दलित जन पर कवि ने खूब लिखा। आज़ाद भारत में ऐसे ही दलित मोचीराम पर धूमिल ने अपनी शैली में, लगभग शेक्सपीयर के मोची पात्र की तरह लिखा और उससे कहलवाया :

बाबूजी सच कहूं -मेरी निगाह में
न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने
मरम्मत के लिए खड़ा है

यही आदमी मुक्तिबोध की कविताओं में बार बार आता है, कभी 'कैद कर लाया गया ईमान' की शक्ति में, कभी 'रक्तालोक स्नात पुरुष' के रूप में और 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' का 'कनफटा हेटा' कार मेकेनिक बन कर, जो कहता है कि 'तेलिया लिवस में पुरज़े सुधारता हूँ/ तुम्हारी आज़ाएं ढोता हूँ।' यहां यह सर्वहारा सिर्फ़ कार के ही पुरज़े सुधरने वाला नहीं है, इस कथन की व्यंजना में वह हमारे पूरे समाज का ढांचा सुधारने वाला इतिहास के आज के मोड़ पर सबसे क्रांतिकारी वर्ग यानी सर्वहारा का प्रतिनिधि भी है। आत्मारंजन की कविता की 'कंकड़ छांटती' स्त्री भी निराला की पत्थर तोड़ती स्त्री की तरह ही समाज के क्रांतिकारी बदलाव की शक्ति का प्रतीक है। वह आज के हमारे समाज के यथार्थ का एक स्लाइस भी है। यही विकास कथा-साहित्य में भी देखा जा सकता है जिसका आकलन आज की आलोचना भी कर रही है। यह प्रक्रिया जारी है।

समकालीन रचना इसी तरह स्वयं ही समकालीन आलोचना को प्रेरित करती है, क्या आपको अभी भी कोई शक है?

वागर्थ जून 2016 में प्रकाशित

क्रिस्टोफ़र कॉडवेल : एक प्रेरक मार्क्सवादी युवा चिंतक

क्रिस्टोफ़र कॉडवेल पर चर्चा करते ही 1970 के आसपास का वह माहौल अचानक याद आ जाता है जब मैंने अंग्रेज़ी साहित्य में दिल्ली विश्वविद्यालय से एम. ए. करने के बाद और एक सांध्य कालेज में प्राध्यापक की नौकरी पाने के बाद अपनी लेखकीय शुरुआत की थी, उस समय परिवेश में एक बेचैनी थी, युवाओं में व्यवस्था बदलने के लिए विचारधारा की पहचान का सिलसिला चल रहा था, क्रांतिकारी, अतिक्रांतिकारी, संशोधनवादी विचारों के बीच गहमागहमी थी, और इसी सारे वातावरण के बीच मेरा भी विचारधारात्मक नज़रिया विकसित हो रहा था। यह नज़रिया साठोत्तरी बरसों के सर्वनिषेधवाद से अलग एक सकारात्मक नज़रिया था, समाज के विकास की मंज़िल पहचानकर एक नये समाज की रचना का नज़रिया था, लेखक के प्रतिबद्ध होने का नज़रिया था, वह उस साठोत्तरी प्रवृत्ति का निषेध कर रहा था जिसमें बकौल कैलाश वाजपेयी यह कहा जा रहा था कि 'जब सब ऊल ही जलूल है / तो सोचना फ़िज़ूल है'। उस दौर में उभर रहे रचनाकार और आलोचक यह मानते थे कि एक बेहतर समाज व्यवस्था वैज्ञानिक विश्वदृष्टि से लैस राजनीति के आधार पर बनायी जा सकती है। तमाम मतभेदों के बावजूद क्रांति की ज़रूरत सभी के दिलोदिमाग़ में काम कर रही थी। शमशेर जी की पंक्ति 'समय है साम्यवादी' या मुक्तिबोध की पंक्ति, 'तय करो किस ओर हो तुम' उस दौर के रचनाकारों को प्रेरित कर रही थी। रचनाकार सर्वहारावर्ग और उसकी विचारधारा के साथ अपनी पक्षधरता घोषित कर रहे थे। उन दिनों जो भी मार्क्सवादी साहित्य जहां भी मिलता था, ख़रीद कर या लाइब्रेरी से लेकर पढ़ डालने की अजीब पागलपनभरी प्रवृत्ति मेरे भीतर भी थी। उसी दौर में क्रिस्टोफ़र कॉडवेल की पुस्तक 'इल्यूज़न एंड रियलिटी' भी देखी और ख़रीद ली, इस युवा लेखक के बारे में जानकारी भी मिली और उससे प्रेरणा भी, क्योंकि शब्द और कर्म में एकरूपता का जो आदर्श कॉडवेल में मिलता है, वह बहुत कम दिखायी देता है। ब्रिटिश समाज में शायद ही कोई ऐसा अद्भुत व्यक्तित्व हुआ हो जिसने इतनी कम आयु में एक परिपक्व विद्वान की तरह लेखन किया हो।

क्रिस्टोफ़र कॉडवैल का असली नाम क्रिस्टोफ़र सेंट जान स्प्रिग था। उनका जन्म 20 अक्टूबर 1907 को लंदन के दक्षिण-पश्चिमी इलाके में 53 मॉटसरेट रोड पर स्थित रिहाइश में हुआ था। कॉडवैल की औपचारिक शिक्षा तो 15 साल की उम्र में ही ख़त्म हो गयी जब उनके पिता जो कि *डेली एक्सप्रेस* नामक अख़बार के साहित्य संपादक हुआ करते थे अपनी नौकरी खो बैठे और पूरे परिवार को ब्रेडफोर्ड जा कर रहना पड़ा जहां कॉडवैल ने *यॉर्कशायर आब्ज़र्वर* नामक अख़बार में एक पत्रकार के रूप में काम करना शुरू किया। इतनी कम उम्र में भी सारी दुनिया का ज्ञान हासिल कर लेने की ललक कॉडवैल में थी, कविता, उपन्यास, कहानी से लेकर दर्शनशास्त्र और फ़िज़िक्स या गणित, सभी को भीतर तक जान लेने और आलोचनात्मक नज़र से सभी के सारतत्व को समझ लेने की अदम्य कोशिश उनके व्यक्तित्व में दिखायी देती है। एक आलोचक ने लिखा कि कॉडवैल लेनिन के उस उद्धरण को अक्सर दुहराते थे जिसमें कहा गया था कि 'कम्युनिज़्म सिर्फ़ एक खोखला शब्द भर रह जायेगा, और एक कम्युनिस्ट सिर्फ़ एक धोखेबाज़, अगर उसने अपनी चेतना में समूचे मानव ज्ञान की विरासत को नहीं सहेजा है।'

कॉडवैल एक किताबी मार्क्सिस्ट नहीं बनना चाहते थे, अगर मार्क्स के सिद्धांत को कोई अपनाता है, तो उसे कर्म में भी एक मार्क्सवादी बनना चाहिए, इसलिए वे ग्रेट ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बन गये और लंदन के मज़दूर इलाके की एक ब्रांच के सदस्य हो गये। स्पेन में फ़ासिस्टों के खिलाफ़ जो अंतर्राष्ट्रीय ब्रिगेड वहां लड़ रही थी, उसमें शरीक होने के लिए दिसंबर 1936 में वे एक एम्बुलेंस खुद चलाकर ले गये, वहां मशीनगन चलाने की ट्रेनिंग हासिल की, उन्हें फिर इंस्ट्रक्टर बना दिया गया, वहां एक दीवाल पर लिखे जाने वाला अख़बार भी उन्होंने संपादित किया। वहीं 12 फ़रवरी 1937 को युद्ध में कॉडवैल मारे गये। बताया जाता है कि कॉडवैल के भाई थ्योडोर ने कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल सेक्रेटरी को उस वक़्त छप रही कॉडवैल की मशहूर किताब '*इल्यूज़न एंड रियैलिटी*' के पूर्फ़ दिखा कर निवेदन किया कि कॉडवैल को मोर्चे से वापस बुला लिया जाये, शायद पार्टी की ओर से एक टेलीग्राम भी भेजा गया, मगर तब तक देर हो चुकी थी, और कॉडवैल के देहांत के बाद ही वह टेलीग्राम स्पेन पहुंच पाया जिसकी वजह से थ्योडोर पार्टी से सख़्त नाराज़ रहे। कॉडवैल की किताबें उनके मरणोपरांत ही प्रकाशित हो पायीं, '*इल्यूज़न एंड रियैलिटी*' मैकमिलन से 1937 में ही छप गयी, जो खुद कॉडवैल दे कर गये थे।

मार्क्सवाद के अध्ययन से पहले कॉडवैल में एक विश्वदृष्टि हासिल करने की बेचैनी थी, अपने एक मित्र को पत्र लिख कर उन्होंने यह स्वीकार किया था कि उनके पास अभी सभी कुछ बिखरा बिखरा सा है और उसे एक व्यवस्थित रूप देने के लिए सर्वसमावेशी विश्वदृष्टि की उन्हें ज़रूरत है। और जब कॉडवैल को मार्क्सवाद

के रूप में वह विश्वदृष्टि हासिल हुई तो उन्होंने हर वस्तुस्थिति, हर ज्ञान की सारवस्तु को पूरी गहराई से व्याख्यायित करना शुरू किया। उनके देहांत के बाद उनकी जो जो किताबें प्रकाशित हुईं, ब्रिटेन के पाठकों ने उन्हें अचरजभरी उसांस से पढ़ा और इतनी कम उम्र के लेखक की चरम विद्वत्ता को सराहे बगैर वे न रह सके। सभी को यह अफ़सोस भी हुआ कि क्यों ऐसा विद्वान इंग्लैंड ने इस तरह खो दिया जिसके सिद्धांत ज्ञान की दुनिया में अभूतपूर्व इज़ाफ़ा करते। 'द क्राइसिस आफ़ फ़िज़िक्स' जब 1939 में छपी तो उसके संपादक और भूमिका लेखक ने सही ही लिखा कि 'कॉडवैल ने सामाजिक और वैज्ञानिक ज्ञान को एकमेक कर दिया, ऐसी समझ किसी परिपक्व वैज्ञानिक में भी दिखायी नहीं पड़ती। इतनी कम उम्र के लेखक में इस समझ को देख कर बेहद अचरज होता है'। उस किताब का रिव्यू लिखते हुए एक लेखक ने कहा कि कॉडवैल ने यह स्थापित किया कि किस तरह फ़िज़िक्स की थ्योरी समाज में विकसित हो रहे आर्थिक आधार से संचालित होती है, और कॉडवैल ने अपने इस सिद्धांत को पूरी विद्वत्ता से स्थापित किया। हालांकि किताब को संशोधित करने का वक्त लेखक को नहीं मिला फिर भी वह किताब 'विचारों की एक खान' है जिससे आगामी पीढ़ियां बहुत कुछ हासिल कर सकती हैं।

अंग्रेज़ी के जाने माने आलोचक जान स्ट्राची इस प्रतिभाशाली युवा की रचनाशीलता पर अचंभित थे। उन्होंने लिखा कि कॉडवैल की दिलचस्पी ज्ञान के हर क्षेत्र में थी, उड़डयनविज्ञान से ले कर कविता, जासूसी कहानियां, क्वान्टम मिर्केनिक्स, दर्शनशास्त्र, प्रेम, मनोविश्लेषणशास्त्र तक हर ऐसे क्षेत्र में जिसमें उस युवा को कुछ कहना है। स्ट्राची ने यह भी रेखांकित किया कि कॉडवैल में शब्द और कर्म की एकता थी। उन्होंने कॉडवैल के व्यक्तित्व के अन्य अनेक गुणों की प्रशंसा की जो ब्रिटिश मज़दूर आंदोलन तक में कम ही पाये जाते थे। स्ट्राची ही नहीं, *लेफ़्ट रिव्यू* नामक पत्रिका से जुड़े अनेक बड़े बुद्धिजीवी भी कॉडवैल के लेखन को लेकर हैरान थे। इस पत्रिका के उस वक्त के संपादक एजेल रिकवर्ड ने जिन्होंने बाद में कॉडवैल की एक किताब, *फ़र्दर स्टडीज़ इन डाइंग कल्चर* की भूमिका भी लिखी थी, कहा था कि कॉडवैल में ज्ञान हासिल करने की असीम आकांक्षा थी, डाक्टर फ़ॉस्टस की तरह महत्वाकांक्षी कॉडवैल सारे विज्ञानों में दक्ष होना चाहते थे, रिकवर्ड ने यह भी बताया कि मनोविश्लेषणशास्त्री चेतना पर एक निबंध छपाने से पहले कॉडवैल ने एक प्रसिद्ध मनोचिकित्सक के पास भेजा जिससे कि उनकी मान्यताएं कहीं उस क्षेत्र में हुए अनुसंधानों से 'आउट आफ़ डेट' न हो जायें, उस मनोचिकित्सक ने अचंभा भरा जवाब लेखक के पास भेजा और उन मान्यताओं से अपनी सहमति जतायी। सच्चाई यह है कि यह उस विश्वदृष्टि का ही कमाल था, जिसके माध्यम से कॉडवैल हर

बौद्धिक समस्या को सामाजिक विकास की प्रक्रिया में देख रहे थे और तर्कसंगत वैज्ञानिक कारण पेश कर रहे थे, वह समस्या चाहे फ़िज़िक्स के संकट की हो, या सौंदर्यशास्त्र या कविता के विकास की या सांस्कृतिक पतन की।

उन दिनों सांस्कृतिक संकट की बात आम थी, सभी जानते हैं कि टी एस एलियट की कविता, 'द वेस्टलैंड' इसी संकट की थीम लेकर रची गयी थी, और एलियट उस संकट से मुक्ति अतीत में और खासकर भारतीय उपनिषदों में दी गयी सीख 'दा, दमयति, दयाध्वाम्' में तलाश कर रहे थे। कॉडवैल ने इस सांस्कृतिक संकट के बारे में अपनी शैली में लिखा, 'या तो हम सब के बीच शैतान घुस आया है, या फिर उस संकट का कोई कार्यकारण संबंध होगा जिसकी चपेट में अर्थशास्त्र, विज्ञान और कला आदि आ गये हैं।' कॉडवैल ने कहा कि इस संकट की पहचान कार्यकारण संबंध तलाशने से ही संभव है, फिर पूंजीवादी चिंतकों पर कटाक्ष करते हुए कहा कि 'दुनियाभर के इन फ़ायडों, एडिंगटनों, स्पेंग्लरों, और केंसों ने इस संकट के मूल को क्यों नहीं तलाश किया, दर असल ये खुद इलाज नहीं, खुद रोग हैं'। कॉडवैल जानते थे कि इस संकट के विश्लेषण और संश्लेषण का कार्यभार मार्क्सवादियों का है। पूंजीपतिवर्ग ने अभी गौण भ्रातियों यानी ईश्वर और धर्म, टेलियोलाजी और मेटाफ़िज़िक्स की भ्रातियों से ही खुद को मुक्त किया है, उसकी अपनी आधारभूत भ्रातियों की जकड़बंदी जस की तस है।'

अपने लेखन में कॉडवैल ने पूंजीपतिवर्ग की चेतना का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण किया है जो अचभित कर देता है। उन्होंने पूंजीवादी 'स्वतंत्रता' की अवधारणा की झोल को सामने ला दिया है, पूरे तार्किक ढंग से यह बताया है कि शोषक-शासकवर्ग की स्वतंत्रता शोषितवर्ग की पराधीनता पर आधारित है। पूंजीपतिवर्ग की स्वतंत्रता की अवधारणा के विकास की प्रक्रिया से कॉडवैल ने शेक्सपीयर के नाटकों की चेतना को, गेलीलियो और न्यूटन के सिद्धांतों को, दे कार्त के दर्शनशास्त्र तक को जोड़कर देखा। यांत्रिक भौतिकवाद की आलोचना करते हुए उन्होंने उससे जुड़े वैज्ञानिकों और चिंतकों की भी आलोचना अपने परिप्रेक्ष्य से की। कॉडवैल के मुताबिक पूंजीपतिवर्ग ने एक समय तक भौतिक पदार्थ की सत्ता को वरीयता दी और उसे मानव मन या भाव से अलग काट कर देखा, सब कुछ 'पदार्थ' ही था, निजगत या भाव कुछ नहीं था। यह सब्जैक्ट और आब्जैक्ट के बीच खाई का दौर था जिसमें पदार्थ ही मुख्य था। फिर एक दौर आया जिसमें पदार्थ की सत्ता गायब कर दी गयी और मनोचेतना या सब्जैक्ट या भाव ही प्रमुख हो गया। इस दौर ने भाववादी दार्शनिक पैदा किये, बर्कले, ह्यूम, कांट, और अंततः हेगेल। मगर सब्जैक्ट

और आब्जेक्ट के बीच द्वैत बना ही रहा। इस नये भाववादी दौर का चरमोत्कर्ष हेगेल में हुआ जिन्होंने विचार को या भाव को मानवमन से भी स्वतंत्र कर दिया।

इस तरह पाश्चात्य पूंजीवादी दर्शनों का आलोचनात्मक विवेक से विश्लेषण करते हुए कॉडवैल पूंजीवादी दुनिया में दार्शनिक चिंतन का पतन देखते हैं क्योंकि वे दर्शन अमल में नहीं लाये जा सकते। यही संकट विज्ञान का भी है, विज्ञान के ऐसे सिद्धांत जो अमल में खरे नहीं उतरते, शब्दजाल से ज़्यादा और कुछ नहीं हैं। कॉडवैल के दार्शनिक चिंतन से प्रभावित हो कर एक अंग्रेज़ विदुषी हेलेना शीहान ने एक पूरी पुस्तक, *मार्क्सिज़्म एंड द फ़िलासफ़ी आफ़ साइंस : ए क्रिटिकल हिस्ट्री* लिखी है, इसमें एक पूरा अध्याय साइंस की फ़िलासफ़ी के बारे में कॉडवैल पर है, उनके साहित्यिक विचारों पर दूसरे विद्वानों ने लिखा है। हेलेना लिखती हैं कि 'कॉडवैल की कोई भी किताब हो, चाहे वह साइंस के बारे में हो या कला के बारे में, वह किताब दोनों विषयों पर बात करती है, उनकी साइंस की फ़िलासफ़ी सौंदर्यशास्त्र में मौजूद है और सौंदर्यशास्त्र में साइंस की फ़िलासफ़ी। उनकी विश्वदृष्टि धागे की तरह मौजूद है।' उन्होंने फ़िलासफ़ी के प्रति कॉडवैल की लिखी एक कविता का भी हवाला दिया है।

कॉडवैल ने अपने समय तक का लगभग सारा उपलब्ध मार्क्सवादी साहित्य पढ़ रखा था, और एक आलोचनात्मक दृष्टि अर्जित की थी। मगर इस दृष्टि में उस समय के साम्राज्यवाद के संकट के दौर की झलक थी, इसलिए उन्हें पूंजीवाद का पतन और भावी विनाश अवश्यंभावी लगता था। यही उनके उत्साह का आधार भी था। यह चर्चा दुनियाभर के कम्युनिस्टों में थी कि पूंजीवाद साम्राज्यवाद की चरमस्थिति में पहुंच गया है और अब उसके पतन और विनाश का सिलसिला शुरू होने वाला है। हालांकि इस अधूरे सच को एक दस्तावेज़ के रूप में दुनियाभर की कम्युनिस्ट पार्टियों ने 1960 में अपनाया था, मगर यह समझ बहुत पहले से काम कर रही थी। कॉडवैल की किताबों के शीर्षक ही बूर्जुआ संस्कृति के मरण या संकट को संकेतित करते हैं। यह समझ तब तक दुनिया भर के कम्युनिस्टों में मौजूद रही जब तक सोवियत संघ का विघटन नहीं हुआ था। सोवियत संघ के विघटन के बाद ही इस पुरानी समझ पर प्रश्नचिह्न लगा और यह समझ बनी कि अभी पूंजीवाद में उत्पादक शक्तियों को विकसित करने की क्षमता खत्म नहीं हुई है, इसलिए वह टेक्नोलाजी को क्रांतिकारी तौर पर विकसित करता हुआ आगे बढ़ रहा है जैसा कि मार्क्स ने *कम्युनिस्ट मनीफ़ेस्टो* में पूंजीवाद की विशेषताओं के बारे में लिखते हुए बताया भी था। यह तो सही है कि पूंजीवाद विश्व में बार बार आर्थिक संकट के दौर लायेगा, लेकिन उसका खात्मा या पतन तभी संभव होगा जब उसमें उत्पादक

शक्तियों को आगे विकसित करने की क्षमता नहीं रहेगी, उसका मरण तभी संभव होगा। पूंजीवाद की विकास की क्षमता का इस्तेमाल अब इसी वजह से वे देश भी कर रहे हैं, जहां राजसत्ता कम्युनिस्ट पार्टियों के हाथ में है। जहां पूंजीवाद की कड़ी सबसे कमज़ोर है, वहां सर्वहारावर्ग अपने को विकसित करते हुए राजनीतिक सत्ता हासिल करने में कामयाब हो सकता है, मगर उसे भी अपने समाज को विकास के पूंजीवादी चरण के बीच ले जा कर आगे बढ़ाने की ज़रूरत पड़ रही है, जैसे कि नेपाल में सीधे समाजवाद में छलांग लगाने की परिस्थितियां नहीं हैं, वहां उत्पादक शक्तियों के विकास के लिए पूंजीवादी मंज़िल से हो कर समाज को गुज़रना ही पड़ेगा। चीन और वियतनाम तक अपने अनुभवों से सीखकर यही रास्ता अपना रहे हैं।

कॉडवैल की समझ ग्रेट ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी की ही तरह 'शुद्धतावादी' थी जिसकी आलोचना स्वयं लेनिन को करनी पड़ी थी, दर असल, कॉडवैल जैसा युवा लेखक अपने समय की सीमाओं को कैसे लांघ सकता था, उनकी चेतना में पूंजीवाद के विनाश का, उसकी मृत्यु का स्वप्न पूरी ईमानदारी से झलक रहा था। उसके पतन को वे समाज के हर क्षेत्र में परिलक्षित कर रहे थे। अंग्रेज़ी कविता की व्याख्या करने वाली उनकी पुस्तक, *इल्यूजन एंड रियैलिटी* में भी यही परिप्रेक्ष्य देखा जा सकता है। कॉडवैल अंग्रेज़ी कविता की अपनी व्याख्या करते वक्त कवियों के बारे में काफ़ी सख्त हो गये हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि वे सारे के सारे बूर्जुआ प्रवृत्तियों के शिकार हैं, वे उनमें से बहुत कम को ही बख्शाते हैं, क्योंकि उनके लिए वे सारे के सारे पूंजीपतिवर्ग की संतानें हैं। रचनाकारों के साथ इस तरह का बर्ताव हर देश में मार्क्सवादी आलोचना के प्रारंभिक दौर में होता रहा है। कवियों की आधी अधूरी या विकृत विश्वदृष्टि की आलोचना के पीछे कॉडवैल की सर्वहारावर्ग के प्रति वह ईमानदार प्रतिबद्धता काम कर रही थी जिसके चलते उन्होंने अपने प्राण भी निछावर कर दिये। तमाम दिवंगत कवियों से उनकी कोई व्यक्तिगत दुश्मनी तो थी नहीं। पूंजीपतिवर्ग के प्रति घनघोर नफ़रत के कारण जहां भी उन्हें किसी कवि में पूंजीपतिवर्ग की विकृति दिखायी पड़ती थी, वे उसकी आलोचना किये बग़ैर नहीं रह सकते थे। इंग्लैंड में मार्क्सवादी आलोचना का यह बिल्कुल शुरुआती दौर था, और ये गुलतियां होना स्वाभाविक ही था। उनकी आलोचना से न तो शेक्सपीयर बच सके और न मिल्टन। रोमांटिक कवियों के पीछे काम कर रही फ़्रांसीसी क्रांति की भावना का तो उन्होंने सही आकलन किया मगर उन्हें भी पूंजीपतिवर्ग के खाते में ही खतिया दिया। इस तरह के अतिवाद हमारी हिंदी आलोचना में तो आज भी होते रहते हैं, लेकिन उस युवा अंग्रेज़ चिंतक के लेखन की गहराई इसलिए अचंभित करती है, कि अंग्रेज़ी कविता की आलोचना का ऐसा प्रयास इंग्लैंड में पहली बार हो रहा था। इस

किताब में ग्रीक कविता या नाटक से ले कर अपने समकालीन काव्यसृजन (स्पेंडर, सी डे लिविस आदि तक) की आलोचना तक का विराट फलक लिया गया है, मगर उनकी तीखी नज़र से ऐसे कवि भी नहीं बच पाये हैं जो भ्रांति के शिकार हैं, भले ही उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ले ली हो, जो अपने जीवन और अपने कलाकर्म में एक फांक पैदा किये हों।

आज के समय को देखते हुए कॉडवैल की आलोचना पद्धति संकीर्णतावाद की कमजोरी से जकड़ी हुई लग सकती है, मगर उसके पीछे छिपे पवित्र मंतव्य पर सवालिया निशान लगाना मुमकिन नहीं। सर्वहारावर्ग के प्रति अपनी ईमानदार प्रतिबद्धता के कारण वे सारे मध्यवर्ग को, मुक्तिकामी हर वर्ग या व्यक्ति को क्रांति के पक्ष में पूरी तरह खड़े होने का आह्वान करते हैं, क्योंकि इतिहास ने अपनी विकास यात्रा में समाज को विकास की अगली मंज़िल तक ले जाने की ज़िम्मेदारी सर्वहारावर्ग पर डाली है, इसलिए कॉडवैल को लगता था कि सर्वहारावर्ग की विचारधारा यानी मार्क्सवाद-लेनिनवाद और उसकी राजनीति यानी उसकी पार्टी के साथ पूरी तरह अपनी प्रतिबद्धता स्थापित किये बगैर कोई कवि या कलाकार अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारी कैसे निभा सकता है। इस तरह की थोड़ी ज़्यादातियां युवा कॉडवैल ने कर डाली हैं, फ़ासीवाद के खिलाफ़ जंग में यदि वे शहीद न हुए होते तो फ़ासीवाद-विरोधी व्यापक मोर्चा की कार्यनीति के अनुभव से अपना नया परिप्रेक्ष्य ज़्यादा तर्कसंगत और उदार विकसित करते, इसमें कोई शक की गुंजाइश नहीं। मगर इन सीमाओं से, कॉडवैल का विश्वसर्वहारावर्ग को दिया गया अवदान, कम करके नहीं आंका जा सकता, वह युवा हम सबका एक प्रेरणास्रोत था और बना रहेगा।

नया पथ, अक्टूबर-दिसंबर 2008 में प्रकाशित

ला क्लेज़िओ (नोबेल पुरस्कार विजेता 2008)

चंचल चौहान

वर्ष 2008 का साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार फ्रांस के 68 वर्षीय उपन्यासकार और लेखक जां मारी गुस्ताव ला क्लेज़िओ को मिला। दुनिया के साहित्य में इस लेखक के बारे में बहुत कम जाना जाता रहा, शायद अंग्रेज़ी भाषा के वर्चस्व और साम्राज्यवादी देशों में सरगना इंग्लैंड और अमेरिका के लेखकों को दुनिया में ज़्यादा शोहरत हासिल होती है, इसलिए क्लेज़िओ जैसे लेखक दुनिया की अपनी बिरादरी में भी अनजाने से रहते हैं। दूसरा कारण शायद यह भी है कि आज के समय में विचारधारात्मक प्रतिबद्धता या 'किस ओर हो तुम?' यदि स्पष्ट नहीं है तो भी लेखक अपनी निजी दुनिया के एक कोने में पड़े रहते हैं, हालांकि फ्रांस के अवाम ने 1994 में एक मतदान के माध्यम से ला क्लेज़िओ को 'सबसे बड़े जीवित लेखक' के रूप में मान्यता दी थी। स्वीडिश अकादमी ने ला क्लेज़िओ को 'नयी लीक, काव्यात्मक दुस्साहस और ऐंद्रिक आनंद का रचनाकार, प्रभुवर्गीय सभ्यता के परे और उसके तहत मानवता का अन्वेषक' बताया। फ्रांस के लेखकों में पहले 1964 में जां पाल सार्त्र को नोबेल पुरस्कार से नवाज़ा गया था, मगर उन्होंने यह कह कर पुरस्कार ठुकरा दिया कि 'एक लेखक को किसी संस्थान में खुद को तब्दील होने देने से बचना चाहिए'। उसके बाद फ्रांस के एक अन्य लेखक, क्लाद सीमों को 1985 में और 2000 में चीनीमूल के फ्रांसीसी लेखक ज़िन्गजियान को यह पुरस्कार मिला।

ला क्लेज़िओ के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है : विश्व की सभी संस्कृतियों से प्यार। संस्कृतियों के प्रति यह बहुलतावादी नज़रिया ही उन्हें एक महान रचनाकार बनाता है, हमारे देश के संघियों की तरह या जर्मनी के फ़ासिस्टों की तरह वे किसी तंग नज़र और अंधराष्ट्रवादी सांस्कृतिक दृष्टिकोण के शिकार नहीं हुए। नोबेल अकादमी के सचिव, होरेस एंगडाल ने ठीक ही कहा कि ला क्लेज़िओ ने 'विकास के कई चरण पार किये हैं, और अपने लेखन में उन्होंने कई सभ्यताओं को शामिल किया है।' यह शायद इसलिए भी हुआ हो, कि वे अपने जीवन में भी किसी एक राष्ट्र या किसी एक भौगोलिक इकाई से अन्य लोगों की तरह अपने जीवन में भी नहीं जुड़े रहे। साहित्य के लिए ला क्लेज़िओ को नोबेल पुरस्कार दिये जाने की खबर सुनकर फ्रांस के राष्ट्रपति सरकोज़ी ने कहा कि 'वह सभी महाद्वीपों और

सभी संस्कृतियों का पुत्र है।' 'वह मारीशस और नाइजीरिया का शिशु रहा, नाइस में लड़कपन बिताया, अमरीका और अफ्रीका के रेगिस्तानों में खानाबदोश की तरह घूमा।'

सीमाओं से परे जाना ला क्लेज़िओ के खून में है। उनके पूर्वज ब्रिटनी से मारीशस चले गये थे, क्लेज़िओ की पढ़ाई लिखाई इंग्लैंड में हुई, उन्होंने अध्यापन का कार्य बैकाक, बोस्टन और मैक्सिको शहर में किया। अपने उपन्यासों की कथावस्तु हासिल करने के लिए वे संसार के न जाने कितने स्थानों पर भटकते रहे। अनेक सभ्यताओं का सीधा साक्षात्कार करके उन्हें अपने उपन्यासों में चित्रित किया। कहा जाता है कि उनके उपन्यासों पर आर एल स्टीवेंसन और जेम्स ज्वाइस का काफी असर है। उन्हें तेईस वर्ष की उम्र में ही अवां गार्द परंपरा के एक उपन्यास, *पूछताछ (Interrogation)* के लिए फ्रांस का एक पुरस्कार मिला था। यह उपन्यास अंग्रेज़ी में 1964 में छपा।

1980 में *रेगिस्तान* नामक कृति से उन्हें दुनिया के कुछ हिस्सों में जाना जाने लगा। नोबेल अकादमी ने इस रचना के बारे में कहा कि यह कृति 'उत्तरी अफ्रीका के रेगिस्तान की खोयी हुई संस्कृति की भव्य बिंबमाला पेश करती है और यूरोप की वह तस्वीर भी जो अवांछित प्रवासियों की आंखों के माध्यम से सामने आती है।'

अब तक लिखी लगभग तीस कृतियों में से करीब बीस उपन्यास हैं जिनमें *ला ग्वैर*(1970), *मोंदो*(1978), *ला चर्च्यर द'ओर*(1985), *ओनिशा*(1991), *एतोइले इरते*(1992) ज़्यादा चर्चित हुए। *भूख के बारे में वही पुरानी कहानी* उपन्यास इसी वर्ष प्रकाशित हुआ जिसमें द्वितीय महायुद्ध के दौरान जर्मनी द्वारा हथियाये फ्रांस की आत्मग्लानि की कथा कही गयी है। *पूछताछ* (1963) में अकारादिक्रम से सजाये गये कुछ टुकड़ों में एक चोटिल युवा की कथा कही गयी। यह उपन्यास खुद लेखक के शब्दों में, 'एक खेल या पहेली' की शैली में लिखा गया। *रेगिस्तान* जिसका ज़िक्र ऊपर किया गया, देखने में एक ऐतिहासिक उपन्यास लगता है जो एक ऐसी जनजाति के बारे में है जो पश्चिमी सहारा में रहती है, उसी जनजाति का एक सदस्य यूरोप जा बसा है जो अपने अनुभवों को तुलनात्मक तरीके से बयान करता है। यह एक ऐसी सभ्यता की दुखगाथा है जो लुप्त होती जा रही है। *ओनिशा* ला क्लेज़िओ का आत्मकथात्मक उपन्यास है जिसमें दूसरे महायुद्ध के दौरान नाइजीरिया में बिताये लड़कपन की कथा चित्रित है।

ला क्लेज़िओ की दो कृतियां मूलतः युद्धविरोधी हैं, एक का शीर्षक ही *युद्ध* है और दूसरी का *दैत्य*। इन कृतियों के आधार पर क्लेज़िओ को साम्राज्यवादविरोध

गी रचनाकार माना जा सकता है। दैत्य में तो साफ़ ही कहा गया है कि 'ये वे लोग हैं जो संसारभर के संसाधनों, विज्ञान और बुद्धि पर कब्ज़ा करके दूसरों को अपने अधीन बनाये रखना चाहते हैं।' वे फ्रांस में खुद को एक आउटसाइडर मानते हैं और तीसरी दुनिया के देशों से बेहद प्यार करते हैं। उन्हें एक मानवतावादी लेखक के रूप में ही चिन्हित किया जा सकता है, एक ऐसा लेखक जो फ्रांसीसी क्रांति के मूल्यों से अपने सपने बुनता है। फ्रांस की क्रांति के बाद यूरोप के साहित्य में 'बच्चा' एक प्रतीक के रूप में बहुत आया था। अंग्रेज़ी में भी विलियम ब्लेक, वर्डस्वर्थ, कोलरिज आदि की कविताओं में 'बच्चा' और बाद में फील्डिंग के टाम जोन्स जैसे लावारिस बच्चे से शुरू हो कर उन्नीसवीं सदी के सभी बड़े उपन्यासकारों, डिक्सेंस और टामस हार्डी आदि तक में 'बच्चा' केंद्र में रहा। एक अमेरिकन आलोचक वुडवर्ड ने पिछले ही दिनों क्लेज़िओ के उपन्यास पढ़ कर कहा कि 'उनकी रचनाओं में विभिन्न देशों के बच्चे चित्रित होते हैं, उनकी आज़ादी की भूख चित्रित होती है।'

बच्चों के प्रति अपने लगाव को क्लेज़िओ ने पुरस्कार की घोषणा से पहले तीर्थंकर चंदा को दिये गये एक इंटरव्यू में भी पूरी संवेदना के साथ व्यक्त किया था। उनसे पूछा गया कि यदि उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला तो वे अपने भाषण में किस मुद्दे पर विशेष रूप से बोलेंगे, तो उन्होंने जवाब दिया कि 'मैं ऐसे युद्ध के खिलाफ़ बोलूंगा, जिसमें बच्चों की हत्याएं होती हैं, हम जिस युग में जी रहे हैं उसकी सबसे बड़ी विभीषिका यही है। साहित्य का काम लोगों को इस विभीषिका के बारे में आगाह करना भी है और युद्ध के मुद्दे को दुनिया के सामने चर्चा के केंद्र में रखना है।' पेरिस में महिलाओं को आज़ादी से वंचित रखने वाले देशों के खिलाफ़ अभियान चला था कि सभी महिलाओं के बुतों को कपड़े से ढंग दिया गया था, क्लेज़िओ ने कहा कि 'बच्चों को भून देने वाले युद्धों के खिलाफ़ भी ऐसा ही अभियान चलाया जाना चाहिए, सभी बच्चों के बुतों के दिल की जगह पर एक लाल निशान बना देना चाहिए, यह दर्शाने के लिए कि संसार में कहीं न कहीं हर क्षण बच्चों पर गोली बारी हो रही होती है, कभी फिलिस्तीन में, कभी दक्षिण अमेरिका या अफ़्रीका, या कहीं और।'

आज के समय में कोई लेखक यदि विश्वशांति के लिए भी सजग है तो उसका यह मानवीय सरोकार उसे भी विश्वसाहित्य की प्रगतिशील परंपरा का ही हिस्सा बनाता है। वैसे भी क्लेज़िओ अपने से पहले के सार्त्र जैसे लेखकों के 'कमिटमेंट' के प्रति सजग हैं। इसीलिए उनके उपन्यासों में तीसरी दुनिया के प्रति एक सहानुभूतिपूर्ण रवैया नज़र आता है, वे पश्चिमी सभ्यता का इस दुनिया से टकराव देखते हैं, ज़ाहिर है पश्चिमी सभ्यता का मूलाधार विश्वपूँजीवाद के रूप में

ही देखा जाता है। शैली वालिया ने पिछले दिनों द हिंदू, अंग्रेज़ी अख़बार में क्लेज़िओ पर अपनी टिप्पणी में इस पक्ष को रखा है। उन्होंने ठीक ही कहा है कि उनके लेखन में 'निरंतरता परिवर्तन के साथ घुलमिल जाती है, परंपरा आधुनिकता में मिल गयी है, यहां सभी धार्मिक विश्वासों, सभी भाषाओं, सभी राष्ट्रीयताओं के एक साथ रहने की जगह है। सभी संस्कृतियों के बीच संवाद मूल्यवान सामाजिक चेतना को और अधिक सभ्य, और अधिक मानवीय बनाने के कारक के रूप में काम करता है। इससे एक अत्यंत व्यापक अंतर्राष्ट्रीय समुदाय बनने का विचार बल पाता है, ऐसे समुदाय के सरोकार भी व्यापक होंगे। इसी संदर्भ में शैली वालिया ने लिखा है कि 'ला क्लेज़िओ का लेखन किसी एक संस्कृति के दायरे में बंधा नहीं रह जाता जिसमें वे स्थित हैं, वे अपनी संस्कृति से बाहर निकल कर दूसरी संस्कृतियों के अनुभव हासिल करने और उन संस्कृतियों को समझने का प्रयास करते हैं, और इस तरह क्लेज़िओ एक व्यापक दुनिया की कामना करते हैं जहां भाईचारा, आज़ादी और समानता के मानवीय मूल्य हों।' शैली वालिया ने लिखा कि 'सांस्कृतिक बहुलता और विविध संस्कृतियों की गतिविधियों से लगाव से ही साहित्यिक कला ज़िंदा रह सकती है, और नयी आध्यात्मिक शक्ति दे सकती है।' ला क्लेज़िओ ओरहन पामुक के उस कथन से शायद सहमत होंगे कि 'उपन्यास विधा का इतिहास मानवमुक्ति का इतिहास रहा है, खुद को दूसरों में रूपांतरित करके, अपनी कल्पना को अपनी अस्मिता से मुक्त करके हम खुद को आज़ाद करते हैं।'

वुडवर्ड ने उनके उपन्यास पढ़ कर पिछले दिनों ही यह कहा कि 'क्लेज़िओ उलझे हुए कथानकों या पात्रों के सर्जक न हो कर दार्शनिक ज़्यादा लगते हैं। एक तरह से उन्हें डार्विन के बाद के युग का रूसो कहा जा सकता है जो दुनिया भर की मूल संस्कृतियों के ध्वंस की निंदा करता है, इस ध्वंस को वे एक बच्चे की आंख से देखते हैं, वे प्रकृति की निर्ममता से भी क्षुब्ध हैं।' क्लेज़िओ के उपन्यासों पर जब तब आलोचकों की टिप्पणियां पहले भी आती रही थीं, लेकिन सिलसिलेवार उन पर लेखन शायद अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के बुद्धिजीवियों के वर्चस्व की वजह से नहीं हुआ। *टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट* के 1964 के एक अंक में क्लेज़िओ के उपन्यास, *पूछताछ* पर टिप्पणी करते हुए जान स्ट्राक ने लिखा था कि 'इस उपन्यास में कोई तर्कसंगत विकास नहीं दिखाया गया है, मगर लगता है कि बिखरे हुए विचारों और शैलियों का एक बुद्धिमत्तापूर्ण संग्रह किया गया है। कुछ आकर्षक लिखावट संबंधी प्रयोग किये गये हैं, कुछ शब्दों पर कास लगा दिया है, एक अख़बार का पन्ना जैसा चिपका दिया गया है। यह उपन्यास काफ़ी महत्वाकांक्षी और सचेत भोलेपन को दिखाते हुए एक पूर्ण रचना के रूप में लिखा गया है'।

एक अन्य आलोचक, डन्ना सीमैन ने 1997 में *वर्ल्ड लिटरेचर टुडे* में क्लेज़िओ के बारे में टिप्पणी की थी, 'ला क्लेज़िओ मंत्रमुग्ध कर देने वाले कथाकार हैं जिनकी कहानियां मूलतः जिंदा रहने की कहानियां हैं, यथार्थवादी और रोमांटिक।' इसी तरह वारेन मोट ने उसी अंक में लिखा, 'बहुत से आलोचकों के लिए ला क्लेज़िओ की एक लेखक के रूप में मुख्य विशेषता यह है कि वे ऐसे औपन्यासिक दृश्यपटल की रचना करते हैं जो नाटकीय रूप से वास्तविक दुनिया से भिन्न हो।'।

इस तरह हम देखते हैं कि समय समय पर क्लेज़िओ के लेखन पर रूपवादी नज़रिये से यदा कदा टिप्पणियां होती रहीं, मगर उनके पूरे रचनात्मक विकास पर अभी तक बाहर की दुनिया के लिए नहीं लिखा गया, फ्रेंच भाषा में हो तो हमें मालूम नहीं। उनके विचारधारात्मक विकास का भी अभी उस तरह लिखा हुआ नहीं मिलता जैसा कि सार्त्र आदि के बारे में मिलता था। अब जब कि नोबेल पुरस्कार ने उन्हें विश्वसाहित्य की चर्चा के केंद्र में ला दिया है, यह सिलसिला शायद शुरू हो।

नया पथ अक्टूबर-दिसंबर 2008 में प्रकाशित

एक इंकलाबी शायर को श्रद्धांजलि

महमूद दरवेश : फ़िलिस्तीनी अवाम की क्रांतिकारी आवाज़

चंचल चौहान

महमूद दरवेश (जन्म 13.3.1942) जो फ़िलिस्तीनी अवाम की क्रांतिकारी आवाज़ थे 9 अगस्त 2008 को गुज़र गये। अमेरिका के एक अस्पताल में उनके दिल का आप्रेशन हुआ था जिसमें कुछ ख़राबी आ जाने से उनका निधन हो गया। चूंकि वे फ़िलिस्तीनी अवाम के राष्ट्रीय कवि थे, इसलिए उन्हें अंतिम संस्कार के वक़्त उसी तरह का सम्मान दिया गया जैसा कि पी एल ओ के अमर सेनानी यासर अरफ़ात को दिया गया था।

1988 की गरमी की छुट्टियों में प्रो. एजाज़ अहमद अमेरिका से दिल्ली आये थे, उन्हें उस वक़्त के जलेस के कार्यकारी अध्यक्ष प्रो. मुहम्मद हसन अपने साथ लेकर जलेस के केंद्रीय कार्यालय में आये थे, देशविदेश के साहित्य पर बातचीत के दौरान ही एजाज़ साहब ने महमूद दरवेश की कविताओं का ज़िक्र किया, उन्होंने इस महान फ़िलिस्तीनी कवि की कविताओं के अनुवाद उर्दू में किये थे। हमारे आग्रह पर उन्होंने एक कविता, 'मैं फ़िलिस्तीन का आशिक' उर्दू में लिखी हुई दी जिसे हमने जलेस की केंद्रीय पत्रिका, *नया पथ* के अंक 7 (अक्टूबर 1988) में हिंदी लिप्यांतर में छापा था। उसमें हमने एजाज़ साहब की भी कुछ नज़्में छापी थीं, इसके साथ मशहूर पाकिस्तानी शायर फ़हमीदा रियाज़ और जाने माने शायर हबीब जालिब की कविताएं भी उस अंक में दी थीं। इन कविताओं को छापने का मक़सद साफ़ था कि हम अदब की उसी रवायत के हिस्से हैं जिसने आज़ादी, भाईचारा और बराबरी का संदेश दुनिया के अवाम को दिया था और सामराजी ज़ोरजुल्म के खिलाफ़ हर जगह आवाज़ बुलंद की थी और आज भी कर रहे हैं। वे इस दुनिया के किसी भी हिस्से में हों, वे हमारी लेखकीय बिरादरी के ही हिस्से हैं। विश्वशांति के प्रयासों में महमूद दरवेश भी हम सब की तरह शामिल थे; लेकिन वे जानते थे कि इज़राइल जिसने अनधिकृत रूप से फ़िलिस्तीनियों के होमलैंड पर कब्ज़ा कर लिया है और अमेरिका का पिटू बन कर उसके बलबूते पर लगातार हिंसा करता आ रहा है अपने जंगी इरादों में हमेशा मुब्तिला रहेगा। उन्होंने 'कला कला के लिए' की तर्ज़ पर एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था : 'जंग जंग के लिए', जिसमें उन्होंने कहा :

यह जंग जंग के लिए है, क्योंकि इसका और कोई मक़सद नहीं सिवाय इसके कि यह जंग चलती रहे। हर कोई यह बात जानता है, इस बार भी तलवार हमारे

जोश को दबाने में नाकाम रहेगी। अरबों ने इज़राइल के सामने साझा शांति की पेशकश की थी, जिसके बदले में उससे अपने ऐतिहासिक होमलैंड के उस एक-बटा पांच हिस्से को लौटा देने का अनुरोध किया था जिस पर उसने अवैध कब्ज़ा कर रखा है। मगर हमारी इस उदार पेशकश का जवाब उसने फ़िलिस्तीनी अवाम के खिलाफ़ जंग का ऐलान करके दिया और अरबों की सूझबूझ का भी खात्मा कर दिया।

यह उस शायर की आत्मा की पुकार थी जो यह चाहता था कि उसकी पितृभूमि सुख और चैन की सांस ले सके और बहबूदी की तरफ़ बढ़ सके। मगर जंगखोरों ने उस पेशकश का जवाब निरपराध फ़िलिस्तीनी अवाम का हर दिन खून बहा कर दिया। महमूद दरवेश अपने उन अवाम को बहुत प्यार करते थे और उनकी मुक्ति आकांक्षा को व्यक्त करने वाली अनेक कविताएँ उन्होंने लिखीं। एक जगह उन्होंने लिखा कि 'फ़िलिस्तीनियों के पास और कोई विकल्प नहीं है। अमेरिका से फंड हासिल करके इज़राइल ने उनकी ज़मीन पर कब्ज़ा करके उनका क़त्लेआम शुरू कर दिया, इसलिए इसका जवाब हमें मुस्तैदी के साथ प्रतिरोध करके देना पड़ रहा है, भले ही इसकी कोई भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। हमारी पीठ दीवाल पर लगी है, हमारी आंखें उम्मीद पर टिकी हैं, इसके लिए कोई दिखावटी तर्क हम पेश नहीं करते।'

एक शायर के तौर पर वे फ़िलिस्तीनी अवाम के देशनिकाले और उनकी उम्मीदों के व्याख्याकार रहे। उनकी कविता का कथ्य अपनी पितृभूमि की चिंता रहा। एक कविता में उन्होंने लिखा :

मैं वहीं से आया हूँ मैं यह आकाश उसकी मां को देता हूँ
जब आकाश उस मां के लिए रोता है
मैं रोता हूँ जिससे उधर लौटता हुआ बादल जान सके
मैंने ये सारे शब्द खून के प्यार के लायक़ समझकर सीखे
जिससे मैं 'रूल' तोड़ सकूँ
मैंने वे सारे शब्द सीखे और उन्हें तोड़ डाला
जिससे एक शब्द लिख सकूँ : 'होमलैंड'

उन्होंने अपनी कविता में साधारण बोलचाल की ज़बान और स्पष्ट आवर्ती बिंबों का इस्तेमाल किया जैसे 'खुले घाव' ('घाव जो लड़ता है'), 'खून' ('हम अपने नाम खून की भाप से लिखेंगे'), 'आइने' ('आत्मा का अक्स आइने में'), 'पत्थर' ('मेरे शब्द पत्थर थे') और 'निकाह' का बिंब। दरवेश अपने पाठक से अमूमन पूरे जोश के साथ जिरह करते हैं, बचाव करते हैं, वकालत करते हैं, एक इलहामी आवाज़ की तरह जो एक समूहगान से आ रही हो :

बहिन, मेरे गले में आंसू फंसे हैं
मेरी आंखों में गोले
मैं आज़ाद हूँ
मैं अब सुल्तान के दर पे मुज़ाहिरा नहीं करूंगा
जो मरे, वे सब दिन के दर पे मरे

वे सब मुझसे गलबहियां डाले हैं, मुझे असलाह में तब्दील कर चुके हैं
ये पंक्तियां हिंदी कवि मुक्तिबोध की 'भूल-गलती' कविता के बिंबों की याद दिलाती हैं।
दरवे की कविता भी ऐसे बिंबों की रचना करती है जो यह संकेत देते हैं कि किस तरह
अत्याचारी शोषकवर्ग गरीब अवाम पर जुल्म बरपा करते हैं और उन्हें उस दमन का
मुकाबला करने के लिए मजबूर करते हैं। दरवेश की महानता इस में है कि वे अपनी शायरी
में फ़िलिस्तीनियों के उस सामूहिक दर्द का इज़हार करते हैं जो उनके वतन छिन जाने से
वे झेल रहे हैं। उनके आखिरी दिनों की एक मशहूर कविता है कि 'तुमने अपने घोड़े को
अकेला क्यों छोड़ा?' इस कविता में यह भावना अपने पूरे कलात्मक सौंदर्य के साथ व्यक्त
हुई है। अकेला घोड़ा पीछे छूट गया, कुआं बावड़ी पीछे छूट गये, वीरान घर की चाभी
हर फ़िलिस्तीनी की जेब में है। यह 'चाभी' का बिंब बहुत ही प्रतीकात्मक अर्थ लिये है,
यह चाभी उस साज़ा लड़ाई का प्रतीक है जिसके बग़ैर खोया हुआ घरबार मिलेगा नहीं।
यह बिंब हर फ़िलिस्तीन को एक दृढ़ संकल्प लेने की ओर प्रेरित करता है। अपने एक
लेख में दरवे की महमूद ने लिखा था :

आज के दिन के बाद, जो इंसान अपने दिल के अंदर से फ़िलिस्तीनी नहीं बन
जाता, कभी भी सच्ची नैतिक पहचान का अर्थ नहीं समझ सकता। यह इसलिए
नहीं कह रहा कि एक बार फिर रोज़मर्रा के वे ही पुराने शगूफ़े जिनमें 'शांति
प्रक्रिया' बहाल करने की बातें होती रहती हैं जिनके सारतत्व का, न्याय और
आज़ादी से दूर का भी रिश्ता नहीं होता है फिर शुरू होगये हैं। यह इसलिए भी
है कि हमारी इच्छाशक्ति लाभ-हानि के साधारण गणित और पंगु बौद्धिक
निराशावाद से मुक्त हो चुकी है। इसने इंसानी वजूद के सही मायने यानी
आज़ादी को भी मुक्त कर दिया है।

महमूद दरवेश का जन्म अल-बिरवा नामक गांव में हुआ था जो एक्के के पूर्व में बसा
था और जिसे इज़राइलियों ने 1948 में बरबाद कर दिया था। जब महमूद दरवेश बेरुत
चले गये तब वे इज़राइल की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। बेरुत जा कर वे पी एल
ओ में शामिल हो गये। 1988 में उन्होंने एक घोषणापत्र लिखा जिसे वे चाहते थे कि
इज़राइल के चंगुल से फ़िलिस्तीनी अवाम की मुक्ति का घोषणापत्र समझा जाये। उसी बरस
उन्होंने एक कविता लिखी जो विवाद का मुद्दा बन गयी जिसमें कहा गया था कि
'इज़राइलियो, इज़राइल छोड़ो, और मरे हुआँ को भी साथ ले जाओ'। 'हमारी ज़मीन से

भागो /हमारे समंदर के किनारे और हमारे समंदर छोड़ो/ हमारा गेहूं, हमारा नमक, हमारे घाव छोड़ो और जाओ।'

महमूद दरवेश के निधन पर हज़ारों लोगों ने अपनी श्रद्धांजलियां सभी तरह के संचारमाध्यमों के ज़रिये दीं। मिस्त्र के एक जनकवि अहमद फुआद नेम्ग ने कहा कि 'इस कवि ने फ़िलिस्तीनियों के दर्द को जादुई तरीके से व्यक्त किया। फ़िलिस्तीनी घाव के दर्द का इज़हार करने वाले इंसान के अलावा जो दर्द सभी अरबों का और दुनिया के सभी ईमारदार इंसानों का है, उस दर्द के वे एक महान कवि थे।'

जब महमूद दरवेश ज़िंदा थे तो उन्होंने *हारेत्ज़* नामक अख़बार को इंटरव्यू देते वक़्त अपनी मौत के बारे में कुछ खयालात का इज़हार किया था : 'मौत चोर की तरह न आये, वह मुझे झपट्टा मार के ले जाये।' शनिवार 9 अगस्त 2008 के दिन वह मौत आयी और झपट्टा मार कर उस कवि को ले गयी। दरवेश की कुछ कविताएं 'मौत' पर भी हैं। एक कविता तो, ऐसा लगता है, जैसे उनकी मौत का इलहाम ही पेश करती हो :

मैंने सोचा कि मैं शनिवार को मर गया
मैं चीखा : इस मौत के क्या मायने !
बेहूदगी और कयास इंद्रियों में
मैं यकीन नहीं करूंगा कि मैं पूरी तरह मर गया
शायद मैं अभी अधर में लटका हूं
शायद मैं एक रिटायर मृत इंसान हूं
जो अपनी चंद दिनों की छुट्टियां बिता रहा है।

यह अध्यात्मवाद कोई मज़हबी अध्यात्मवाद नहीं है। अवाम का प्यारा शायर कभी मर ही नहीं सकता, वह तो उन लोगों में ज़िंदा रहेगा जिनके सपने समाजवाद से जुड़े हैं। एक कविता में उन्होंने अपनी अस्मिता का हवाला दिया :

और मेरा पता :
एक दूरदराज का गांव जो है वीरान
जहां गलियों के नाम नहीं
जहां लोगबाग खेतों और खदानों में काम करते हैं
वे समाजवाद पसंद करते हैं
क्या इससे आप नाराज़ हो जायेंगे?

दुनिया के शासकशोषकवर्गों की नराज़गी की महमूद दरवेश को कहां परवाह थी ? उन्होंने लिखा और खूब लिखा। उनके करीब 30 संग्रह हैं जिनमें कविता और गद्य भी शामिल है। वे एक प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका, *अल कारमेल* के संस्थापक थे, जिसका फिर से प्रकाशन 1997 से शुरू हुआ। 1998 में उनका एक कविता-संग्रह, *एल गरीबा (अजनबी की सेज)* शीर्षक से जो कि उनकी प्रेम कविताओं का पहला संकलन है छपा। सन् 2000 में *जिदारिया (म्यूरल)* शीर्षक से एक लंबी कविता प्रकाशित हुई जिसमें 1997 के उनके मृत्यु संबंधी

अनुभव दर्ज हैं। 1997 में ही फ्रांसीसी-इज़राइली निदेशक सीमों बित्तों के निर्देशन में महमूद दरवेश पर एक डॉक्यूमेंटरी भी बनी। उन्हें फ्रेंच आर्डर ऑफ आर्ट्स एंड लैटर्स के कमांडर का सम्मान भी प्रदान किया गया।

महमूद दरवेश को 2001 का 'लैन्गान प्राइज़ फ़ार कल्चरल फ़्रीडम' भी प्रदान किया गया। यह पुरस्कार ऐसे विलक्षण प्रतिभा के धनी लोगों को दिया जाता है, जो रचनात्मक कल्पना, शोधवृत्ति और अभिव्यक्ति की आज़ादी के मानव-अधिकार के लिए साहसपूर्ण संघर्ष करते हैं, जैसा कि उस फ़ाउंडेशन के दस्तावेज़ में परिभाषित किया गया है कि सांस्कृतिक आज़ादी हर इंसान और समुदायों का हक़ है जो आज के भूमंडलीकरण के ज़माने में दांव पर लगा हुआ है। जिन दिनों दरवेश साहित्य की दुनिया में बेहद सक्रिय थे, उन दिनों उनके बारे में मशहूर शायर नाओमी शिहाब न्ये ने लिखा था कि 'दरवेश फ़िलिस्तीनी अवाम की बेहद ज़रूरी सांस हैं, उन अवाम के देशनिकाले, उनके रिश्तों का मुखर गवाह हैं, वे ऐसे बिंबों के बेहद सुरीले गायक, जो दुनिया भर के दिलों में अपनी जगह बनाकर उनमें चमचमाती रोशनी भर देते हैं। उनकी वाणी दुनिया भर के पाठकों के गले का हार बनी हुई है। उनकी आवाज़ एकदम ज़रूरी आवाज़ है जिसे एक बार पा लिया तो भुलाया नहीं जा सकता।'

दरवेश ने कविता की पहली किताब, *जैतूनों की पत्तियां* 1964 में प्रकाशित करायी थी, जब वे 22 बरस के थे। उसके बाद बीस से ज़्यादा उनके कवितासंग्रह आये जिनमें *दो ईडनों का आदम*, *म्यूरल*, *तुमने घोड़ा अकेला क्यों छोड़ा*, *ग्यारह ग्रह* शामिल हैं। कैलीफ़ोर्निया यूनीवर्सिटी ने उनकी गद्यरचना, *विस्मृति की याद* प्रकाशित की। 2000 में गैलीमार्द ने उनकी रचनाओं का अद्यतन फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया। अंग्रेजी में उनकी चुनी हुई रचनाओं का एक अनुवाद अमेरिका से 2000 में छपना था जो शायद छप गया है। दरवेश को 1969 का लोटस पुरस्कार भी मिला था।

अब महमूद दरवेश हमारे बीच नहीं रहे, मगर उनकी आवाज़ दुनिया के उस हर कोने में गूँजती रहेगी जहां अवाम विश्वसाम्राज्यवाद और उनके चाटुकारों के खिलाफ़ संघर्ष कर रहे हैं क्योंकि विश्व की वित्तीय पूंजी का खेल एशिया के तमाम देशों पर अपना कब्ज़ा जमाने का है जिसे अमेरिका का संरक्षण मिला हुआ है। हम लेखक लोग दरवेश की कविता में व्यक्त जनवादी मूल्यों के लिए सदैव प्रतिबद्ध रहेंगे और उस अत्यंत मानवीय लक्ष्य को कभी ओझल नहीं होने देंगे जो शोषणपरंपरा को खत्म करने के लिए है और एक ऐसे समाज के निर्माण का लक्ष्य है जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण नहीं होगा, जिसमें कोई जंगखोर सामराजी देश जो कि मानव विनाश के एटमी असलाह से लैस है किसी के देश को एटमी कुव्वत के बल पर हड़प नहीं कर पायेगा।

महमूद दरवेश 'एक जिप्सी के मेहमान' की तरह दुनिया छोड़ कर चले गये जिसे उन्होंने अपनी एक कविता में भी लिखा :

लजा कर मैं भिखारी का कटोरा देखता हूँ
लजा कर मैं धिसे हुए रिकार्ड से एक गाना सुनता हूँ
लजा कर मैं उस गुलाब की गंध सूँघता हूँ जो मेरा नहीं
लजा कर मैं अपनी देह खुजलाता हूँ
लजा कर मैं पाँचों ज्ञानेंद्रियों का इस्तेमाल करता हूँ
लजा कर मैं अपनी छठी ज्ञानेंद्रिय के आगे झुक जाता
लजा कर जी रहा जैसे किसी जिप्सी का हूँ मेहमान
जो अब अलविदा कहने ही वाला है ।

नया पथ : जुलाई-सितंबर 2008 में प्रकाशित